

थो विद्याभवन आयुर्वेद ग्रन्थमाला ६५

केरलीय-पञ्चकर्म-चिकित्सा-विज्ञानम्



डा० टी० एल० देवराज



KLE UNIVERSITY
BMKAM LIBRARY



01465

LB:4:6 N72

चौरस्कम्बा विद्याभवन, वाराणसी-२

॥ श्रीः ॥

विद्याभवन आयुर्वेद ग्रन्थमाला

६५

ग्रन्थमाला



केरलीय-
पञ्चकर्म-चिकित्सा-विज्ञानम्

डा० टी० एल० देवराज

जी० सी० आई० एम०

कायचिकित्सा विभाग, चिकित्सा विज्ञान संस्थान

काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी

प्रस्तावनालेखक

पं० शिव शर्मा

राष्ट्रपतिचिकित्सक, आयुर्वेदचक्रवर्ती, वैद्यरत्न



चौरक्षम्बा विद्याभवन, वाराणसी-१

१६७२

प्रकाशक : चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी
मुद्रक : विद्याविलास प्रेस, वाराणसी
संस्करण : प्रथम, वि० संवत् २०२८
मूल्य : ५-००

LB:4:3

N72

1465

© चौखम्बा विद्याभवन

चौक, पो० बा० ६६, वाराणसी-१
फोन : ६३०७६

KLE UNIVERSITY
BMKAM LIBRARY



01465

LB:4:6 N72

प्रधान कार्यालय

चौखम्बा संस्कृत सीरीज आफिस

गोपाल मन्दिर लेन,

पो० आ० चौखम्बा, पोस्ट बाक्स ८, वाराणसी-१
फोन नं० ६३१४५

THE
VIDYABHAWAN AYURVEDA GRANTHAMALA

65

No. 65
Chowk Vidyashala-1 Varanasi-1

2028

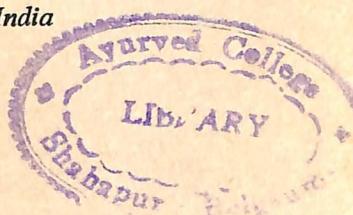
KERALEEYA-
PANCH-KARMA-CHIKITSĀ-VIJNĀNAM

DR. T. L. DEVARĀJ
G. C. I. M.

Kayachikitsa Vibhaga, Institute of Medical Sciences
Banaras Hindu University

Foreword by

Pt. SHIV SHARMĀ
Ayurveda chakravarti, Vaidyaratna
Hon. Physician to the President of India



THE
CHOWKHAMBHA VIDYABHAWAN
VARANASI-1
1972

© The Chowkhamba Vidyabhawan
Post Box No. 69
Chowk, Varanasi-1 (India)
1972
Phone : 63076

1465

First Edition
1972
Price Rs. 5-00

Also can be had of

THE CHOWKHAMBA SANSKRIT SERIES OFFICE
Publishers & Oriental Book-Sellers
P. O. Chowkhamba, Post Box 8, Varanasi-1 (India)
Phone : 63145

परमादरणीय

पद्मश्री डा० के० एन उद्धुप

एम. एस., एफ. आर. सी. एस., एफ. ए. सी. एस., एफ. ए. एम. एस.

निदेशक

चिकित्सा-विज्ञान-संस्थान

काशी हिन्दू विश्वविद्यालय

वाराणसी की

सेवा में श्रद्धा-पूर्वक

समर्पित



F O R E W O R D

Pt. SHIV SHARMA

*Ayurveda Chakravarti, Vaidya-Ratna, Hon. physician
of the President of India.*

Pancha-karma Chikitsa of Ayurveda needs no introduction to the enlightened Ayurvedic profession. It has proved its worth, again and again, in amelioration of nerve disorders and rheumatic diseases, when other techniques, Ayurvedic or modern, failed to bring relief to the patient.

It is only during the last quarter of a century that the practice of Pancha-karma has spread from Kerala to the other parts of India. And wherever adequate arrangements have been made by an institution to conduct this treatment effectively, the results have been eminently satisfactory, and, in many cases, spectacular. It is time that authentic literature on the subject should be made available to the Ayurvedic profession in general so that the benefits of the technique of Pancha-karma are made available to needy sufferers residing at long distances from Kerala, the State which preserved and developed the knowledge and practice of this important branch of Ayurveda during the centuries of neglect when the system suffered at the hands of foreign rulers.

Shri Devaraj, the author of this treatise, has rendered a much needed service to Ayurveda by contributing towards the removal of the dearth of good literature on the subject. He is academically well equipped to do full justice to the subject and, consequently, his exposition and treatment of it is excellent.

The book should prove valuable to the practising Vaidyas and the students of Ayurveda.

FORMARD

Dr. SHIVA SHARMA

Amaravati Chikitsa, Ayurvedic Hospital, Noorpur

of the Institute of India

Department of Ayurveda uses to introduce
to the following Ayurvedic Hospital. It has been
now, however, been closed due to various
circumstances after which Ayurvedic

only students go to the department to learn the
process of Ayurvedic Hospitalization from Kanya to the offer
of public welfare and education of society. This
process is to be followed by the hospital authorities
and the patients who have been admitted to the
hospital. The patients should be given
the best care and attention to their health.

Ayurvedic Hospital has been established
for the benefit of the people of the country.
The hospital has been established for the benefit
of the people of the country. The hospital has
been established for the benefit of the people of the country.

The hospital has been established for the benefit
of the people of the country.

न्मामुख

यदुनन्दन उपाध्याय

अध्यक्ष-कायचिकित्सा विभाग

चिकित्सा विज्ञान संस्थान, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय

आयुर्वेद प्राचीनतम और वैज्ञानिक चिकित्सा शास्त्र है। स्वस्थ व्यक्तियों
के स्वास्थ्य की रक्षा करना और रोगियों के विकारों को दूर करना ही इस
शास्त्र का प्रयोजन है। शमन और शोधन, ये चिकित्सा के दो प्रकार हैं।
इनमें शोधन-चिकित्सा का अधिक महत्व स्वास्थ्य की रक्षा और विकारों
के उन्मूलन में होता है। इस शोधन-चिकित्सा की ही पाँच विधियों को
पञ्च कर्म कहते हैं। वह कर्म हैं:—१—वर्मन, २—विरेचन, ३—आस्थापन,
४—अनुवासन, और ५—शिरोविरेचन। यतः अनुवासन से शोधन की अपेक्षा
शमन अधिक होता है अतः सुश्रुत और वाग्मट आदि ने उसके स्थान पर रक्त-
मोक्षण कर्म का प्रहण किया है। स्नेहन और स्वेदन इन पञ्चकर्मों के पूर्व-
कर्म तथा संसर्जन कर्म पश्चात् कर्म कहलाते हैं।

दैव-दुर्बिपाक से आजकल इन पञ्चकर्मों का प्रयोग लुप्तप्राय है। कुछ
गिने-चुने वैद्य ही इनका प्रयोग करते हैं और उनसे चमत्कारिक लाभ होते
देखे गये हैं। दैवात यह चिकित्सा पञ्चति केरल प्रदेश में आज भी
भूरितः प्रयुक्त होती है और उससे अनेक दुःसाध्य रोगियों को लाभ मिलता
है। रोगप्रतीकारार्थ और स्वास्थ्यवर्द्धन के लिये भी इसका प्रयोग होता है।
हमारे देश के महामहिम राष्ट्रपति श्री व्यंकट वाराह गिरि महोदय भी कुछ
दिन पूर्व ही इससे लाभान्वित हुए हैं। किन्तु यह प्रक्रिया केरल अथवा
दक्षिण भारत के कुछ स्थानों में ही होती है अतः उसका पुनरुज्जीवन,
प्रसार एवं वैज्ञानिक अध्ययन आवश्यक है। हमारे काशी हिन्दू विश्व-
विद्यालयीय आनुवालय में इसका छिटपुट प्रयोग और अध्ययन किया गया
और उत्ताहवर्धक परिणाम प्राप्त हुए अतः सुचारुरूप से इसकी नियमित
व्यवस्था की योजना की जा रही है।

डॉ० देवराज ने मैसूरु विश्वविद्यालय की जी० सी० आई० एम० उपाधि
प्राप्त कर कई वर्ष तक चिकित्सालय में चिकित्सक का कार्य करने के बाद

आयुर्वेद के विशिष्ट अध्ययन के लिये हमारे संस्थान में प्रवेश लिया और पञ्चकर्म-चिकित्सा पर अनुसंधानात्मक विशेष अध्ययन कर प्रस्तुत ग्रन्थ का सर्जन किया है तथा कई मास तक निष्ठापूर्वक आर्यवैद्यशाला कोट्टक्ल के भूतपूर्व प्रधान चिकित्सक वैद्य एस० आर० ऐस्यर से सैद्धांतिक एवं वर्तमान प्रधान चिकित्सक वैद्य एस० वारियर के तत्त्वावधान में क्रियात्मक अध्ययन कर केरलीय पञ्चकर्म का विशेष अध्ययन किया है।

इस अध्ययन काल में ज्ञात हुआ कि आयुर्वेदीय संहिताओं में वर्णित पञ्चकर्म के अतिरिक्त केरलीय पञ्चकर्म एक विशेष परम्परागत पद्धति है। इसे 'धारा-कल्प' भी कहते हैं। इसके भी पांच विशेष उपक्रम हैं जिन्हें पञ्चकर्म कहते हैं। वस्तुतः यह प्राचीन शास्त्रोक्त 'पञ्चकर्म' के पूर्व कर्म स्नेहन और स्वेदन के ही अन्त हैं। शेष प्रधान 'पञ्चकर्म' भी यथावश्यक अलग से किये जाते हैं। ये केरलीय पञ्चकर्म निम्नांकित हैं।

१-शिरःसेक, २-कायसेक, ३-पिण्ड स्वेद, ४-अन्नलेप और ५-शिरोलेप। पिण्ड स्वेद के भी दो प्रकार हैं—(१) पत्र-पिण्ड-स्वेद (पत्र किडी) और (२) अन्न-पिण्ड-स्वेद (नवर किडी)।

इस विषय पर केरलीय भाषा (मलयालम) में भी कोई ग्रन्थ उपलब्ध नहीं है। औषध योगों का संघर्ष 'सहस्र योग' नामक ग्रन्थ अवश्य है और केरल में इसका अत्यन्त आदर है। व्यावहारिक पक्ष परम्परा से चला आ रहा है।

श्री डॉ देवराज ने श्री एस० आर : अस्यर महोदय से सुनकर और नागरलिपि में लिखकर हिन्दी अनुवाद के साथ प्रस्तुत किया है। साथ में विभिन्न क्रमों के विधान सचित्र वर्णित हैं इससे व्यावहारिक शिक्षण एवं प्रयोग और भी सुगम हो जाता है।

मुझे पूर्ण विश्वास है कि वैद्य-समुदाय इस सत्र प्रयास से अत्यन्त लाभान्वित होगा। साथ ही जनकल्याण में भी यह अत्यन्त उपयोगी होगा। नागराक्षरों में उपस्थाता डॉ देवराज मेरे बधाई के ग्रात्र हैं। इस सुकृत से अर्जित पुण्य के प्रभाव से इनका उत्तरोत्तर उत्कर्ष स्वतः होगा फिर भी मैं इनके मन्त्रलार्थ जगदीश से प्रार्थी हूँ।

—यदुनन्दन उपाध्याय

प्रस्तावना

श्री रमानाथ द्विवेदी

एम० ए०, ए० एम० एस०

अध्यक्ष : आयुर्वेद विभाग, चिकित्साविज्ञान संस्थान

काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी

आयुर्वेदीय परम्परा में पञ्चकर्म के द्वारा शोधन चिकित्सा की एक विशिष्ट प्रक्रिया है। कालक्रम से पञ्चकर्म चिकित्सा पद्धति आज के युग में लुप्तग्राय है। यत्र तत्र कुछ वैद्य-परम्पराओं में जीवित भी है। उन जीवित परम्पराओं में दक्षिण भारत के केरल प्रदेश में इस विद्या का समुच्चित एवं व्यावहारिक रूप देखने को मिलता है। केरलीय वैद्यों में इसका लिखित साहित्य वैत्रीय-भाषाओं में ही मिलता है। संस्कृत या किसी अन्य भारतीय भाषा में इस प्रकार के व्यावहारिक साहित्य का अभाव पाया जाता है।

प्रस्तुत पुस्तक के रचनाकार डॉ देवराज मैसूरु प्रदेश के निवासी हैं। इस विषय के अध्ययन एवं क्रियारमक अभ्यास के निमित्त केरल प्रदेश में कई मासों तक रहकर उस भाषा का ज्ञान, भाषागत साहित्य का मनन तथा क्रियारमक अभ्यास भी किया है। पुनः आर्यवैद्यशाला कोट्टक्ल के सेवा-निवृत्त प्रधान-चिकित्सक को आचार्य रूप में ग्रहण कर उनके साक्षिध में संस्कृत श्लोकों में सम्पूर्ण तदेशीय पञ्चकर्म साहित्य का उद्घार किया है। अतः इस पुस्तक के रूप में एक पूर्णतया नवीन रचना का प्रारूप लेखक ने दिया है।

केरलीय पञ्चकर्म का यह विषय एक व्यावसायिक रहस्य के रूप में तदेशीय वैद्यों में ही सीमित था। इस पुस्तक के प्रकाशित हो जाने से इस विषय का सार्वभौमस्वरूप हो गया है। शास्त्र में पञ्चकर्म से सामान्यतया वमन, विरेचन, निरुहण, अनुवासन तथा नस्यकर्म का ग्रहण होता है, जैसा कि शाङ्खधरोक्त निश्च उद्धरण से स्पष्ट है :—

वमनं रेचनं नस्यं निरुहश्चानुवासनम् ।

एतानि पञ्चकर्माणि कथितानि मुनीश्वरैः ॥ —शा० उ० ८

केरलीय पञ्चकर्म उपर्युक्त पञ्चकर्मों से भिन्न स्वरूप के हैं। इनमें निम्न-लिखित कर्मों का ग्रहण किया जाता है :—

शिरःसेक, काय-सेक, पिण्ड-स्वेद, अज्ञ-लेप तथा शिरो-लेप ।

इस प्रकार ये कर्म निःश्वस्य व्यवहृत होने वाले पञ्चकर्म के रूप हैं। आधुनिक युग में पञ्चकर्म का यही क्रियामक रूप देखने को मिलता है।

श्री देवराज की वैयक्तिक अभिलाषा इस पुस्तक को अपनी क्षेत्रीय कन्नड भाषा में लिखने की और पुनः आंगन भाषा में प्रस्तुत करने की थी। मेरे प्रोत्साहन एवं प्रेरणा से इसको हिन्दी भाषा में प्रकाशित करने की उत्सुकता इनमें जागृत हुई। आयुर्वेद साहित्य के परिवृहणार्थ मैंने इस पुस्तक के संशोधन तथा सम्पादन रूपीदुरुहकार्य का भार सहर्ष स्वीकार किया। परिणामस्वरूप आप को राष्ट्रभाषा हिन्दी के माध्यम से पाठकों के सम्बन्ध रखने में सफलता प्राप्त हुई।

आयुर्वेद साहित्य के सम्बद्धन में इस पुस्तक का अनुपम स्थान है। आशा है, क्षात्रीय विवेचना तथा क्रियामक क्षेत्र में चिकित्सकों के लिये यह उपयोगी सिद्ध होगी।

इस उत्तम कृतित्व के लिये श्री देवराज मेरी बधाई के पात्र हैं। भगवान् विश्वेश्वर से प्रार्थना है कि वे इस नव्य रचनाकार को ऐसी शक्ति दें कि इनके माध्यम से एताइश अन्यान्य भावी रचनाओं के द्वारा आयुर्वेद का छँहण होता रहे।

महाशिवरात्रि

वाराणसी

वि० सं० २०२८

रमानाथ द्विवेदी

प्राक्कृथन

केरल-प्रदेश में एक विशेष प्रकार की पंच-कर्म-चिकित्सा बहुत पुराने समय से लेकर अभी तक प्रचलित है। केरल-निवासियों की बहुत-सी अपने ढंग की निजी वैज्ञानिक धरोहरों में से यह भी एक है। खासकर जो बीमारियां आधुनिक चिकित्सा पद्धतियों से अथवा पाश्चात्य एलोपैथिक औषधियों से निर्मूल नहीं हो पातीं, उन प्रायः सभी गम्भीर एवं जीर्ण-व्याधियों में यह केरलीय पंच-कर्म-चिकित्सा अत्यन्त फलवती प्रमाणित हुई है। आयुर्वेद के इस प्रायः अप्रकाशित अंश को केरल ने परम्पराया सक्रिय सुरक्षित रखा है।

पुनरुज्जीवन, दीर्घायु एवं स्वस्थ शरीर के निर्माण में ये केरलीय पंच-कर्म चमत्कारिक प्रभाव दिखाते हैं। भारतवर्ष के उत्तरीय भागों में लोग अभी इस चिकित्सा-पद्धति से परिचित नहीं हैं। अतः सार्वत्रिक प्राचारार्थं इस पुस्तक के प्रकाशन के रूप में मैं यह सर्व-प्रथम सविनय प्रयास कर रहा हूँ ताकि पाठकवृन्द, विशेषतया चिकित्सक-गण एवं रिसचं स्कालसं आदि, इस कृति द्वारा सानन्द लाभ उठा सकें।

आयुर्वेद के उपलब्ध साहित्य में जिन पांच कर्मों का उल्लेख मिलता है उनसे केरल में प्रचलित पंच-कर्म भिन्न प्रकार के हैं। वे ये हैं :— (१) धारा-क्रम, (२) कायसेक, (३) पिण्ड-स्वेद, (४) अज्ञ-लेप और (५) शिरो-लेप। इनका संक्षिप्त परिचय नीचे दिया जा रहा है :—

१-धारा-क्रम

धारा-क्रम में विशिष्ट औषध-सिद्ध तैल या स्नेह-द्रव्य को उचित ऊंचाई पर टांगकर नीचे द्रोणी-स्थित रोगी के मस्तक पर धारा-पात्र की वर्तिका द्वारा मंद-मंद प्रवाहित किया जाता है। धारा-कल्प से अनेक रोग अच्छे हो जाते हैं। अपस्मार (एपिलेप्सिया), सेजो-फेनिया, ट्रिजेमिनल, न्यूरोलिज्या, मानस रोग एवं नेत्र, कर्ण, नासिका, कण्ठ आदि की व्याधियों में तथा अदित जैसे वातरोगों में भी इस प्रकार का प्रयोग बहुत उपकारी होता है। “निद्रा-नाश, स्मृति-अंशादिष्वपि क्षीर-धारा प्रशस्यते ।”

२-काय-सेक

कायसेक अथवा सर्वांग सेचन प्रक्रिया में औषध-सिद्ध तैल को रोगी के समस्त शरीरावयवों पर चुवाया जाता है। समुचित ऊंचाई पर से धारा-सिचन चलता

जाय, साथ-साथ परिचारक-गण अङ्गों की विधिवत् मालिश करते जाय, ऐसा इसका विधान है। केरलीय अनुभवी कुशल व्यक्ति इसे बड़ी सुन्दर-मुखद शैली से कर पाते हैं।

धातूनां दृढ़तां करोति वृषतां देहान्तिवर्णौजसाम् ।
स्थैर्यं पाटवमिन्द्रियस्य जरसो मान्यं चिरंजीवितम् ॥
अस्थनां भंगमपाकरोति नितरां दोषान् समीरादिकान् ।
सर्वे-स्नेह-कृता सुखोष्ण-सुभगा सर्वांग-धारा नृणाम् ॥

सर्व प्रकार के स्नेह द्रव्यों से सिद्ध की हुई सुखद-उष्ण, स्वच्छ तैल-धारा का समस्त अङ्गों पर सविधि सेचन करना आरोग्य-प्रद है। यह सर्वांगधारा धातुओं को दृढ़ बनाती है, अग्नि-बल को बढ़ाती है, देह-वर्ण में सुन्दरता एवं ओज में स्थिरता लाती है। इन्द्रियों में पदुत्त्व एवं दीर्घ-जीवन प्रदान करती है, बुद्धिप्रकाश को दूर करती है और अस्थि-भंग को ठीक कर देती है। विशेषकर के इसके प्रयोग से वातजन्य व्याधियाँ निमूँल हो जाती हैं।

३-पिण्ड-स्वेद

केरलीय पंच-कर्मों में पिण्ड-स्वेद एक अनोखी प्रक्रिया है। इसमें बला (वरियार) के कवाय के योग से एवं निर्दिष्ट परिमाण में षष्ठिक शाली (साठी के चावल) द्वारा निर्मित गोल-पिण्डों का प्रयोग किया जाता है। पहिले रोगी के समस्त शरीर में तैल त्रुपड़कर तब उक्त पिण्डों के सुखद गुनगुने स्पर्श से सब अंगों में क्रिया-कौशल द्वारा मर्दन किया जाता है। इस प्रक्रिया को ठीक-ठीक सम्पन्न कर सकने पर वात-रोग, स्नायुदीर्घाव, पित्तज विकार, हाई-परटेन्शन, कफजन्य व्याधियाँ, तमक इवास, मधु-मेह, आमवात, प्रारम्भिक यक्षमा इत्यादि बहुत जल्दी अच्छे हो जाते हैं।

४-अन्न-लेप

पंचकर्मान्तर्गत अन्न-लेप प्रक्रिया में विशेष विधि से सिद्ध किये हुए अन्न का प्रयोग किया जाता है। इस औषधान्न से रोगी के शरीर पर यथा-विधि लेपन एवं उबटन करके रोग हटाया जाता है। जहां पर पिण्ड-स्वेद कर्म से सफलता नहीं मिलती वहां पर अन्न-लेप के प्रयोग से भरपूर लाभ होता पाया गया है।

५-शिरो-लेप

केरलीय पंच-कर्म-चिकित्सा में शिरोलेप विशेष ढंग से किया जाता है। मानसिक रोग, मस्तिष्क सम्बन्धी विकार इससे शर्तिया अच्छे होते हैं। परम्परया

परिचित निर्दिष्ट द्रव्यों द्वारा तैयार किये हुए लेप का रोगी के शिर पर ठीक-ठीक प्रयोग करने पर निःसन्देह लाभ होता है। अनुभवी, कुशल, तज्ज्ञ वैद्य की देखभाल में पर्याप्त समय तक यह क्रिया करनी पड़ती है। रोग के स्वभाव के तारतम्य से इसमें कम या ज्यादा समय देना पड़ता है।

आभार प्रदर्शन

श्री प्रो० यदुनन्दन उपाध्याय, अध्यक्ष, कायचिकित्सा विभाग ने पूर्वकाल से ही पंचकर्म चिकित्सक के लिये मुझे उत्साहित किया और इसके मूल पहलू पर काम करने के लिये प्रोत्साहन दिया। उन्होंने अपने मूल्यवान मत भी दिया मैं उनके इस दयालुता-पूर्णकार्य के लिये बहुत अभारी हूँ।

काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के आयुर्वेद विभाग के अध्यक्ष आदरणीय डा० रमानाथ द्विवेदी ने मुझे इस नूतन-कार्य में निरन्तर पथ-प्रदर्शन किया। इस पुस्तक प्रकाशन में उन्हों का प्रधान हाथ मेरे साथ रहा। मैं उनका कृतज्ञ हूँ और उन्हें हार्दिक धन्यवाद देता हूँ।

आचार्य प० गोरखनाथ चतुर्वेदी, रीडर, चिकित्सा विभाग, काशी हि० वि० वि० के प्रति भी अपनी कृतज्ञता ज्ञापन करना एक पुनीत कर्तव्य समझता हूँ जिनकी सहज कृपा साहाय्य एवं निर्देशन के द्वारा इस कृति को पाठकों के समक्ष रखने में समर्थ हुआ।

डा० पी० एस० शंकरन, अध्यापक, शाल्य शालाक्य विभाग, एवं आनंदेशी एडिटर, जनरल आफ रिसर्च इन्स्टी इन्डियन मेडिसिन, का भी आभारी हूँ जिन्होंने समय समय पर अपना अमूल्य सम्मति प्रदान किया।

आर्य वैद्य शाला, कोटकल (केरल) के प्रमुख चिकित्सक डा० एस० वारियर तथा पी० के० वारियर, म्यानेजिंग ट्रस्टी और डा० एस० रघुनाथ ऐयर ने जब मैं कोटकल (केरल) में था, तब मुझे सर्वप्रथम प्रेरणा देकर इस अभिनव उपक्रम के लिये प्रस्तुत किया, एतदर्थ में उनका सशब्द अभिनन्दन करता हूँ।

आदरणीय कविराज वैद्यरत्न प० शिवशमर्जी के प्रति आभार प्रदर्शन करते हुए गौरव कर रहा हूँ जिन्होंने सहज स्नेह वश इस रचना के सम्बन्ध में प्रारंभिक प्रस्तावना लिखकर मुझे कृतार्थ किया। परमादरणीय

डा० पी० एन० वी० कुरुपजी, आयुर्वेद चिकित्सा विभाग परामर्शदाता, स्वास्थ्य मंत्रालय केन्द्रीय सरकार, नई दिल्ली, के प्रति भी आभार प्रदर्शन आवश्यक है, जिनके प्रोत्साहन एवं प्रेरणा से इस नवीन कृति को पाठक के समक्ष रखने में सफलता प्राप्त हुई।

मेरे इस साहित्यिक कार्य में मेरे प्रमुख सहयोगी श्रीकृष्ण सिंह चौहान जी ने चित्र-प्रस्तुत आदि में मुझे पूर्ण आत्मीयता से योगदान किया, अतः उनके प्रति मैं सर्वात्मना कृतज्ञ हूँ। अंत में इस रचना के प्रकाशनार्थ प्रकाशक के प्रति भी अपना साधुवाद देना कर्तव्य समझता हूँ।

महाशिवरात्रि
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय
वि० सं० २०२८

टी० एल० देवराज

विषय-सूची

सेकादिक्रमः	...	३०
क्रियाक्रमः	...	११
सर्वाङ्गसेकः (कायसेकः)	...	१६
पिण्ड-स्वेदः	...	२१
अन्नलेपादिविधिः	...	३१
शिरोलेपः	...	३३
गन्धवंहस्तादिकषायः	...	३७
धान्याम्लकम्पः	...	४५

केरलीय- पञ्चकर्म-चिकित्सा-विज्ञानम्

सेकादिक्रमः

गङ्गाधरं च विघ्नेर्ण मत्तातं जननीमपि ।

गुरुवर्यान् नमस्कृत्य वद्ये सेकादिकं क्रमम् ॥ १ ॥

गंगाधर (शंकर) तथा विघ्नों के ईश्वर गणेश को एवं अपने माता-पिता को तथा पूज्य गुरुदेव को नमस्कार करके में पंच-कर्मान्तर्गत सेक आदि क्रियाओं का वर्णन कर्हँगा ।

मूर्धसेकादिविधयः संहितास्वपि सूचिताः ।

केरलीयाहृतं चैषां साधु वद्ये क्रियाक्रमम् ॥ २ ॥

मूर्ध-सेक आदि विधियों का वर्णन संहिता-ग्रन्थों में भी पाया जाता है । केरल निवासियों ने इन विधियों को आदरपूर्वक अपनाया है । उन विधियों का मैं यहाँ निरूपण कर रहा हूँ ।

प्रायो जत्रूर्ध्वरोगेषु मूर्धसेको विधीयते ।

द्रवमत्र विकल्पं स्यात् दोषरोगानुरोधतः ॥ ३ ॥

जन्म से ऊपर के दैहिक रोगों में मूर्ध-सेक का विधान उपयुक्त माना गया है । किन्तु यहाँ पर भी दोष एवं रोग के भेदानुसार विविध द्रव्यों का उचित चुनाव अपेक्षित रहता है ।

वातामयेषु योज्यं स्यात् तैलं क्षीरबलादिकम् ।

सिद्धं स्नेहसिद्धं वा स्तिर्ग्रन्थकाथादि युक्तिः ॥ ४ ॥

वात-प्रधान रोगों में क्षीरबलादि तैल, दुग्ध, वला आदि के योग से सिद्ध किये हुए अथवा सिद्ध न किये हुए वैसे ही स्नेह द्रव्यों का भी अथवा (काढ़) आदि के सहारे कीशलपूर्वक बनाये हुए स्नेह द्रव्यों का प्रयोग करना चाहिये ।

कफपित्तामयेष्वेवं शिरोदाहरुगादिषु ।

निद्रानाशेष्यतिस्वेदे मूर्च्छोन्मादकलमादिषु ॥ ५ ॥

अपस्मारापचीमोह - मेहादिषु विशेषतः ।

धात्रीक्वाथसमं तक्रं मूर्धसेकं प्रशस्यते ॥ ६ ॥

कफ तथा पित्त के रोगों में शिरोदाह आदि में, निद्रानाश में, पसीने की अतिशयता में, मूर्च्छा में, उन्माद में, कलान्ति में, अपस्मार में, अपची में, मोह में, ऐह आदि रोगों में आंवले के क्वाथ (काढ़) के समान, तक्र (मट्ठे) का प्रयोग मूर्ध-सेक-क्रिया में उत्तम माना है ।

केरलीय-पञ्चकर्म-चिकित्सा-विज्ञानम्

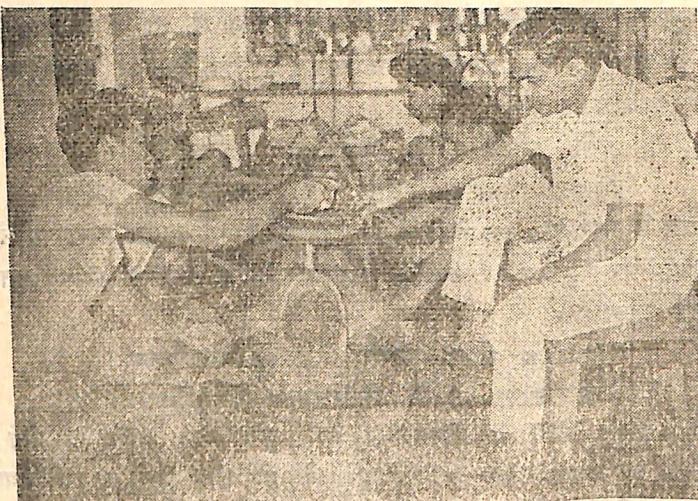
दोषदूष्यादिभेदांश्च युक्त्या सञ्चिन्त्य बुद्धिमान् ।
तत्तद्रोगेषु युद्ध्याद्वा स्तन्यमाजं पयोऽपि वा ॥ ७ ॥

गठयं तथा माहिषं वा धारोषणं शतमन्यथा ।

केवलं संस्कृतं वापि कोषणं वा शीतमेव वा ॥ ८ ॥

बुद्धिमान् वैद्य को चाहिये कि दोष तथा दूष्य आदि भेदों को युक्तिपूर्वक समझते हुए उन रोगों में बकरी के, गाय के या खेंस के दूध का यथोचित उपयोग करें। दूध केवल शुद्ध किया हुआ, गुनगुना अथवा ठंडा ही यथावश्यक काम में लावें।

धारा-कर्म करते हुए लेखक तथा कायसेक-परिचारक



दशमूलबलासुस्तावालकोशीरचन्दनैः ।

यष्ट्याह्मांसी मुख्यैर्बा शृताद्यं साधु-साधितम् ॥ ६ ॥

न्यस्तैर्युक्तैः समस्तैर्बा नालकेरफलाड्जलं ।

सद्योद्धृतं शुद्धमम्बु द्रवं वान्यद्व् यथोचितं ॥ १० ॥

दशमूल, बरियार, मोथा, सुंगधबाला, खस, चन्दन, मुलेठी, जटामांसी आदि प्रमुख चीजों के योग से भली प्रकार सिद्ध किये हुए द्रव होने चाहिये। उपर्युक्त चीजें अकेली या अन्य के साथ अथवा सभी एकत्रित लेकर के नारियल के ताजे पानी में अथवा खाली सादे शुद्ध जल में अथवा अन्य किसी उचित तरल द्रव में मिलाकर सेकद्रव का निर्माण करना चाहिये।

सेकादिक्रमः

द्रोणीविधानम्

खदिरासनविल्वाचैः वातच्छैः सारवृक्षकैः ।

युक्त्या प्रकल्पयेद् द्रोणीं चतुर्ग्राहसमन्विताम् ॥ ११ ॥

मूर्धसर्वांगसेकेऽपि युगपच्च सुखावहाम् ।

चतुर्हस्तमितायामां हस्तमात्रवितानिकाम् ॥ १२ ॥

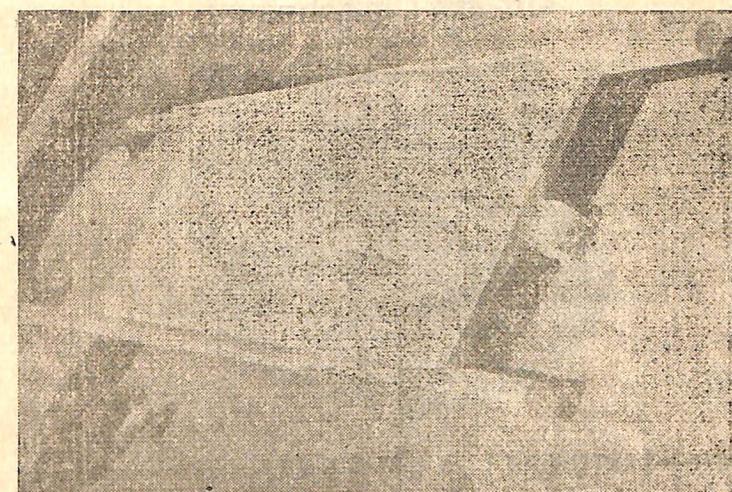
पादहस्तमितां निम्नां शलकृणा समतलां दृढाम् ।

शीर्षोऽचां च शिरःस्थानेऽप्यद्वाढकसुनिम्निकाम् ॥ १३ ॥

पादाश्रे च शिरोभ्रे च प्रत्येकं द्वारसंयुताम् ।

धाराद्रवबहिःस्थावं सुशकं येन युक्तिः ॥ १४ ॥

तैल-द्रोणी तथा धारा-पात्र



सेक-कर्म के लिये खैर, शाल, बेल आदिक प्रमुख वात-नाशक वृक्षों के (काष) द्वारा द्रोणी बनानी चाहिये। वह द्रोणी ऐसी हो जिसमें चार तरफ पकड़कर उठाया जा सके। ऐसी चार पकड़े उसमें बनी हो। वह चौकोर द्रोणी मूर्ध-सेक तथा सर्वांग-सेवन उभय क्रियाओं में एकसाथ आरामप्रद हो। द्रोणी की लंबाई चार हाथ, चौड़ाई एक हाथ तथा गहराई चौथाई हाथ होनी चाहिये। उसकी बनावट समतल, दृढ़ हो तथा चिकनी हो। शिर की ओर ऊंची होनी चाहिये। जहां पर सिर रहेगा वहां पर सिर के परिस्माण गहरी होनी चाहिये।

सिर की ओर तथा पैर की ओर का द्रोणी का भाग खुले द्वार का होना चाहिये जिससे कि दोनों तरफ धारा-द्रव आसानी के साथ बहकर बाहर निकल सके ।

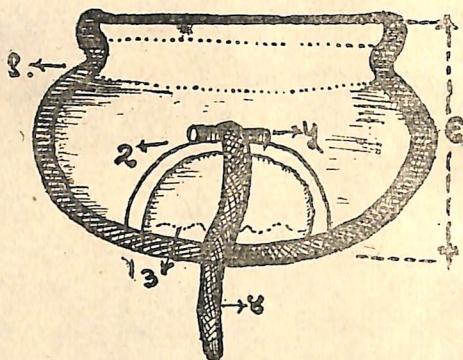
शरावं

शरावमाडकोन्मानं श्लदणं च सुहृदं तथा ।

बहिर्नेतोष्पपालीकं क्रमतान्सुनिम्निकाम् ॥ १५ ॥

सेक-कर्म के लिये शराव (प्रायः मिट्टी का बना) एक आढ़क (लगभग २ लिटर) का होना चाहिए, साथ ही चिकना बनना चाहिए तथा मजबूत चाहिए । उसकी मुख की किनारियाँ बाहर की ओर मुड़ी हों उसमें चीफेर बन्धन बांधकर उसे टाँगते बने । शराव मुख की ओर चौड़ी, नीचे की ओर सँकरी (कम चौड़ी होती गई हो) ।

धारा-पात्रम् (लम्ब-परिच्छेदः)



देशना—१. धारा-पात्रम् । २. सुषिर-काष्ठ चषकः ।

३. काष्ठ-चषकस्य उत्थित-प्रात्तः । ४. शिथिल-कार्पास-सूत्र-वर्तिका ।

५. काष्ठ-कीलकः, यस्मादवलम्बते वर्तिका ।

कनिष्ठिकामध्यमानमध्यच्छ्रद्रं प्रकल्पयेत् ।

पक्वकेर-कपालाद्व॑ मूर्खच्छ्रद्रमधोमुखम् ॥ १६ ॥

शरावमध्ये सुस्थाप्य-मसिधार-मुखं यथा ।

छिद्रद्वयं चाभिमुखं स्याच्छ्रावकपातयोः ॥ १७ ॥

शराव की पेंदी में बीचोबीच कनिष्ठिका उंगली के मध्यभाग के इतना-मोटा छिद्र बना होना चाहिये । शराव में पके नारियल की अर्ध-कटोरी (बीचो-बीच

सेकादिक्रमः

छिद्र वाली) इस प्रकार औंधी रखे कि जिससे शराव तथा कटोरी इन दोनों के छिद्र आमने-सामने एक रेखा में ठीक-ठीक आ जायें ।

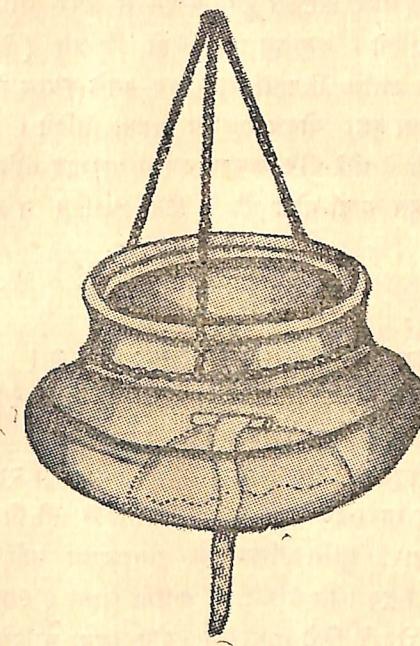
द्वच्यंगुलां सुशलाकां तु कपालोपरि विन्यसेत् ।

शलाकामध्यसंबंधा तन्तुघृन्दसुवर्तिका ॥ १८ ॥

कपालच्छ्रद्रतश्चाधः शरावच्छ्रद्रतो बहिः ।

नीता चाधः सुलंबा स्यात् सुकृताग्रा घडंगुला ॥ १९ ॥

धारा-पात्रम्



(दोलायमानहृश्यम्)

द्रवाद्री सुवहा वर्तिः यथा नातिहृश्लथा ।

सुहृदश्लक्षणसूत्रेणाप्योष्पपाल्यां सुवेष्टिम् ॥ २० ॥

नारियल के औंधे कपाल के छिद्र पर दो-तीन अंगुल लम्बी शलाका (सलाई) आड़ी हुई रखी हो । उस शलाका के बीचोबीच धागों से बटी हुई एक बर्ती बांधकर अर्धकपाली के छिद्र में से नीचे लटकानी चाहिये । जो कि शराव के

छिद्र से भी पार नीचे लटकी हो । बत्ती छः अंगुल लम्बी, नोकदार हो । धाराद्रव से भीगी हो । धाराद्रव उसके द्वारा सुविधापूर्वक नीचे सवित हो (चू) सके । बत्ती न बहुत कड़ी हो न बहुत ढीली ही, बटी हो ।

शरावमूर्ढ्वं बद्धं स्यात् सुबन्धेन सुलंबकम् ।

उत्तानशायिनो द्रोण्यां रोगिणस्तु ललाटतः ॥ २१ ॥

द्वचंगुलोच्चं तु वर्त्यग्रं यथा स्यात् सुदृढं तथा ।

नातिशीघ्रघनस्थूलमविच्छन्नं स्वेदू द्रवम् ॥ २२ ॥

शराव की ओंठी की किनारी पतले मजबूत डोरे से घिरी और कसी हो और शराव के अच्छे लम्बे लटकते हुए बन्धन से ऊपर बांधकर सावधानी से लटकते रहने देना चाहिये । वह इस प्रकार हो कि जब (सेककर्म के लिये) रोगी द्रोणी के भीतर उतान लिटाया जाय, तब उसके कपाल से दो अंगुल ऊपर उस बत्ती का लटकता हुआ नोकदार अग्र पड़ना चाहिये । उस मजबूत अग्र में से होकर मन्दगति से धीरे-धीरे अखण्ड रूप से धाराद्रव नीचे गिरना चाहिये । धाराद्रव इसीलिये बहुत गाढ़ा-मोटा भी न होना चाहिए न बहुत जल्दी बह जाने वाला हो ।

धाराद्रवम्

मूर्ढ्वसेकद्रवं योद्यं द्विप्रस्थं मानतः स्मृतम् ।

तकधारेति नाम्नेव प्रथितापि तु केरले ॥ २३ ॥

केवलेन तु तक्रेण मूर्धिन्सेकः सुदुर्लभः ।

तकधाराद्रवस्यातो निर्माणक्रम उच्यते ॥ २४ ॥

केरल में यद्यपि धारा-द्रव तकधारा इस नाम से ही विख्यात है तथापि खाली तक (मट्टे) द्वारा मूर्धसेक-क्रिया का होना पाया नहीं जाता । इसीलिये तकधारा नामक सेचन-द्रव किस प्रक्रिया से बनाया जाता है उसका वर्णन में यहां कहूँगा । कफप्रधान रोग के लिये मोथा का प्रयोग करना चाहिये ।

कफप्रधाने मुस्तां च पित्ते यष्ट्याह्वयं तथा ।

दोषानुरोधाद् युक्तं वा बालकोशीरचन्दनम् ॥ २५ ॥

पित्त रोग में मुलेठी का प्रयोग अथवा दोप-भेदानुसार जो-जो कुछ जहां उपयोगी हो, ऐसे सुगन्धवाला, खस, चन्दन, बेल की जड़, बरियार आदि का प्रयोग करना चाहिये । प्रयोग के लिए निश्चित की हुई वनीषधियाँ निम्नलिखित हैं ।

बिल्वमूलबलाद्यं वा द्विपलं तु जलाठके ।

दत्त्वा प्रस्थं च गोक्षीरं पक्त्वा क्षीरावशेषितम् ॥ २६ ॥

सेकादिक्रमः

आठ तोले परिमाण में लेकर चार सेर जल में एक सेर गोदुग्ध मिलाकर सब पकाना चाहिये । पकते-पकते जब प्रायः दूधमात्र शेष बचे तब उतार कर उसे ठण्डा होने दे । फिर उसमें अच्छे मट्टे का विधिवत् जामन डाल दे जिससे उसका दही बन जाय ।

साधुशीतं सुतक्रेण विधिनाऽथ दधीकृतम् ।

निरंबु मथितं प्रातरुद्धृत्य नवनीतकम् ॥ २७ ॥

ततः प्रस्थं समादाय किञ्चिच्छेषं सुरक्षितम् ।

पुनश्च दधिनिर्माणे युद्धज्याव भविमान् भिषक् ॥ २८ ॥

तक्रप्रस्थेन चानेन प्रस्थं तु विधिना कृतम् ।

धात्री-काथं तु संयोज्य तकधारा द्रवं यथा ॥ २९ ॥

नात्यच्छं वा नाति सान्द्रं सद्यः सिद्धं प्रयोजयेत् ।

नोनं सार्द्धं द्रवप्रस्थाद् द्वि-प्रस्थान्नाधिकं क्वचित् ॥ ३० ॥

प्रातःकाल उस दही को बिना पानी डाले ही अच्छी प्रकार से मथकर उससे मक्खन निकाल ले । फिर उस गाढ़े ओषध सिद्ध मट्टे में से १ सेर लेकर बाकी सुरक्षित रख दे ताकि पुनः दही जमाने के काम में आ सके । बुद्धिमान् वैद्य को यही करना चाहिए । उस मक्खनरहित एक सेर ओषध-सिद्ध तक में आमलकी व्याथ समझाग विधि-निर्मित भिषित कर दे । अब सेक-कर्म के लिये यह 'तकधारा' नामक द्रव बन कर यह तैयार हुआ, उसे ताजा ही प्रयोग में लाना उचित है । यह द्रव बहुत गीला, गाढ़ा या बहुत पतला भी न होना चाहिये । यह डेढ़ सेर से कम या दो सेर से अधिक नहीं बनाना चाहिये ।

अन्योपकरणानि

प्रदीपं वस्त्रखण्डानि भाजनान्यपि युक्तिः ।

मूर्ढ्वतैलं कायतैलं स्नानार्थमुदकादिकम् ॥ ३१ ॥

रस्भापत्रं चोपधानं पीठानि फलकानि वा ।

इत्याद्यवश्यं संसद्यं पूर्वमेव क्रिया-क्रमात् ॥ ३२ ॥

दोषानुरोधाद् धात्रीं वा बालकोशीरचन्दनम् ।

दशमूलबलाबिल्वं कटुवस्त्री-दलादिकम् ॥ ३३ ॥

दीपक, वस्त्र-खण्ड, बत्तन, सिर के लिये तेल, शरीर में लगाने के लिये तेल, स्नान के लिए जल, कदली-पत्र, तकिया, पीढ़े या तख्ते इत्यादि आवश्यक प्रयोज्य-वस्तुएँ सजाकर कार्यक्रम से पहिले ही रख लेनी चाहिये । जैसा द्रोण हो उसके अनुसार आंवला, सुगन्धबाला, खस, चन्दन दशमूल, बरियार, बेल,

कटु-वल्ली (कुट्टी) के पत्ते आदि वनौषधि आठ तोले लेकर आठ सेर पानी में काढ़ा पकावे । जब छः सेर बचे तो उसे ठण्डा होने पर शिरःस्नान के लिये काम में लावें ।

द्विपले ह्याठके तोये समुत्क्वाथ्यावशेषितम् ।
षट् प्रस्थं तु सुशीतं तच्छ्ररः स्नाने प्रयोजयेत् ॥ ३४ ॥
वातध्नैरण्डपत्रैश्च पनसच्छुद्वृत्तकैः ।
चतुष्पलैश्चोत्क्वथितं द्विद्रोणं सलिलं तथा ॥ ३५ ॥
कण्ठाधः स्नानयोग्यं स्यात् सुखोष्णं च सुखावहम् ।
स्नेहापनयने योजयं मुद्रगपिष्ठादि युक्तिः ॥ ३६ ॥

वात-नाशक एण्डपत्र तथा कटहल के पत्तों के डंठल लेकर पानी में (द्रोण-जल में) पकाये । वही आरामप्रद एवं सुखकर सम उष्ण जल कंठ के नीचे वाले शरीर के अंगों के सनानाथं उपयोगी होता है । शरीर में स्नेहद्रव आदि की चिकनाहट मिटाने के लिये कौशल के साथ मूँग की पीठी आदि का प्रयोग करना चाहिये । वर्षा, गरमी, ठंडक, हवा आदि बाधाओं से रहित अच्छे समय में ही 'सेककर्म' का प्रयोग करना उचित है ।



क्रियाक्रमः

अथ काले निराबाधे वर्षातपहिमानिलैः ।
सज्जीकृतोपकरणे विशाले निलये शुचौ ॥ १ ॥
द्रोणीं शुद्धां सुसंस्थाप्य यथोच्चं सुस्थिरं तथा ।
प्राकशीर्षं सुदृढं बद्ध्वा शरावं च यथोचितम् ॥ २ ॥
दक्षपाश्वे शीर्षभागे दीपं संस्थाप्य मंगलम् ।
यथास्थानं च पीठाद्यं ज्ञात्वा सर्वं समीहितम् ॥ ३ ॥
सुदिने सुमुहूर्तेऽथ प्रातरेव भिषग्वरः ।
कृतावश्यकमाद्य रोगिणं सुसमाहितम् ॥ ४ ॥
प्रज्वाल्य दीपं ध्यात्वा च स्वेष्टदेवमनाविलम् ।
कृतस्वस्त्ययनं द्रोण्यां प्राङ्मुखं चोपवेशयेत् ॥ ५ ॥

क्रिया की समस्त सामग्री सजाकर रख लेने पर स्वच्छ विशाल गृह में शुद्ध द्रोणी को प्रतिष्ठित करें और द्रोणी के सिरहाने की ओर उचित ऊँचाई पर शराव को स्थिर तथा मजदूत बाँध दे । द्रोणी के दक्षिण बगल में सिर की ओर मंगल दीप स्थापन करे । पीछे, फलक आदि उचित स्थानों पर रखे । निश्चित क्रिया हुआ सारा विधान भलीभांति समझते हुए शुभ दिन शुभ मुहूर्त में प्रातः-काल ही उत्तम वैद्य उस नियम क्रियाओं से फुरसत हुए सुस्थिर-चित्त रोगी को बुलावे । दीपक जलावे । इष्टदेव का ध्यान करे एवं शीत्र ही स्वस्तिवाचन मंगलाचरण करके उसे द्रोणी के भीतर पूरब की ओर मुख करा के बिठावे । फिर वैद्य रोगी के सिर पर कौशल से तीन बार स्नेह (द्रव) का सिंचन करे ।

मूर्धिन दद्यात् ततः स्नेहं त्रिवारं युक्तितो भिषक् ।
कण्ठादधस्ततोऽभ्यज्य कोष्णेन परिचारकः ॥ ६ ॥
स्कन्धे पृष्ठे च संवाह्य कंचित् कालं यथोचितम् ।
भ्रुवोरुपरि संवेष्ट्य ललाटे वस्त्रवण्डतः ॥ ७ ॥
समस्थूलकृतां वर्ति बध्नीयात् पाश्वमागतः ।
नातिश्लथदृढं कृत्वा केशांश्चापि सुसंयतान् ॥ ८ ॥
धाराद्रवं च स्नेहं वा नाक्षिणी प्रविशेद् यथा ।
वस्त्रवण्डस्तरैः क्लिप्तं रस्भापत्रसुवेष्टितम् ॥ ९ ॥
साधूपधानं कृत्वाऽस्मिन् शीर्षं विन्यस्य युक्तिः ।
उत्तानशायिनं कृत्वा क्रियासौकर्ययोगतः ॥ १० ॥

तत्पश्चात् परिचारक (सेवक) गुनगुने स्नेह से कंठ के नीचे के अङ्गों में मले। कुछ समय तक कंधों पर तथा पीठ पर जहाँ जितना उचित हो मर्दन करे। कपाल पर भौंहों के ऊपर वस्त्र के टुकड़े की समान मोटी बत्ती बनाकर बगल की ओर से गांठ को बांध दे। यह वस्त्र-वेष्टन न बहुत ढीला हो न बहुत कड़ा। रोगी के सिर के केश भी ठीक सँवारे होने चाहिये। धारा-द्रव जिससे आँख के भीतर न छुसे इसलिये यह उपाय। वस्त्रखण्ड के परतों को मोड़कर केले के पते ऊपर से लपेट कर मुन्द्र-सा तकिया सजाकर उस पर यत्न से शिर रखकर रोगी को उत्तान लिटा देना चाहिये, जिसमें आयोजित किया सुगमता से संपन्न करते बने। रोगी की दाहिनी बगल में सिर की ओर सुखकर ऊचे से पीढ़े पर (चोकी पर) दक्षता से बैठे हुए वैद्यजी अब आगे का कार्य आरम्भ करें।

रोगिणो दक्षभागेऽथ शीर्षस्थाने सुखोन्नते ।
पीठे साधु निषण्णोऽथ वैद्यः सम्यक् शरावकम् ॥ ११ ॥
आकृत्य पाणिनाच्छिद्रे स्वांगुष्ठेन सुमुद्रिते ।
सज्जं धाराद्रवं भृत्यः सावधानो विनिक्षिपेत् ॥ ११ ॥
छिद्रसुद्रां ततो मन्दं विश्लथं क्रमशो भिषक् ।
वर्तिसूत्रेण सुवहं द्रवं साधु निषेचितम् ॥ १२ ॥

टैंगे हुए शराव को हाथ से सावधानीपूर्वक खींचकर पकड़े हुए वैद्यजी उसके छेद को अपने अंगूठे से ढके रहें एवं सेवकजन तैयार किये हुए धाराद्रव की उसमें ठीक यत्न से उड़ें (डालें)। वैद्यजी फिर छिद्र पर से अंगूठे की पकड़ को मंद बेग से क्रमशः ढीली करते हुए लटकी हुई बत्ती के अग्र से धाराद्रव को धीरे-धीरे ठीक से बहने दें। कपाल पर बाईं-दायीं ओर से ठीक दो अंगुल बीचोबीच शराव को ऐसे कौशल से संचालित करता रहे कि द्रव-धारा रोगी के शिरोभाग पर बहुत मंदगति से तथा अखंडरूप से गिरती जाय।

ललाटे वामदक्षेण द्रचंगुलावधिमध्यतः ।
गृहीत्वा चालयेद्युक्त्या शरावं च यथासुतिः ॥ १४ ॥
पंचाशाखापरामर्शं कुर्यान्मूर्धन्यन्तरान्तरा ।
नातिसक्तं न वासक्तं द्रवं स्याच्च यथा क्वचित् ॥ १५ ॥
नातिशीघ्रं न विच्छिन्ना सावधानमनाः क्रमात् ।
निषिक्तं च द्रवं धर्तु द्रोण्याश्चापि बहिः स्तुतम् ॥ १६ ॥
युक्तं च भाजनं चैकं सुस्थाप्य च ततः क्रमात् ।
उद्धृत्य चषकेणान्यः सावधानो द्रवं क्रमात् ॥ १७ ॥

बीच-बीच में मस्तक पर पंच-शाखा-परामर्श अर्थात् चारों शाखाओं और सिर का अभ्यंग करना चाहिये। जिसमें रोगी द्रव के द्वारा अतिसिक्त या असिक्त न रह सके।

सेचन किया हुआ द्रव जो द्रोणी के भीतर तथा बाहर भी गिरा हो उसे उठाकर भर लेने के लिये बगल में एक पात्र ठीक से रखा रहना चाहिए।

दूसरा सेवक सावधानी से द्रव्य को कटोरे उठाकर शराव में पुनः डालता जाय। इस कार्य में न बहुत जलदबाजी करे, न बहुत बिलम्ब ही करे।

शरावे निक्षिपेत् भूयो नातिदुतविलंबितम् ।

सेके तु परमः कालो यामार्घ इति चोच्यते ॥ १८ ॥

प्रथमे दिवसे चाथ होराकालस्ततः क्रमात् ।

प्रत्यहं तु विवृद्धः स्याद्वाराया द्वादशांशतः ॥ १९ ॥

सार्धहोरा सप्तमे स्यात् तावदेवाष्टमे दिने ।

हासयेद् वृद्धिवज्ञातो होराकालश्चतुर्दशो ॥ २० ॥

एकविंशत्यहान्तं चेद् धारा तत्र तु सप्तमात् ।

यावत् पंचदशान्तं स्याद् यामार्घ ह्वासयेत् ततः ॥ २१ ॥

सेक-क्रिया के लिये अधिक से अधिक समय प्रायः डेढ़ घंटे का माना गया है। पहले दिन एक घंटा, फिर आगे क्रमशः प्रतिदिन पांच मिनट बढ़ाता जाय। इस प्रकार सातवें दिन डेढ़ घंटा समय लगेगा। फिर आठवें दिन से उसी प्रकार क्रमशः पांच-पांच मिनट समय क्रमशः घटाता जाय। इससे चौदहवें दिन तक एक घंटा समय लगेगा। यदि २१ इक्कीस दिन तक प्रयोग करना हो तो प्रथम दिन से लेकर सात दिन तक उसी क्रम से बढ़ावे। किन्तु फिर सातवें दिन से पन्द्रहवें दिन तक वरावर डेढ़ घंटा ही समय प्रतिदिन लगावे। तत्पश्चात् पुनः उसी क्रम से पांच मिनट प्रतिदिन घटाता जाय। इस प्रकार इक्कीसवें दिन एक घंटा समय लगेगा।

एवं होराकालः स्यादेकविंशतु वासरे ।

प्रायेण तक्रधारेष्ट्रा नैकविंशत्यहात् परम् ॥ २२ ॥

प्रायः २१ दिन से आगे फिर तक्रधारा का प्रयोग नहीं चलाया जाता। मूल-सिंचन से वैसे शाखाओं तक में उसका प्रभाव फैल जाता है, उसी प्रकार 'मूर्ध-सेक' द्वारा रोगी के सभी अङ्गों पर प्रभाव पड़ता है।

मूलसेकेन वृक्षाणां शाखादित्वं रोगिणः ।

मूर्धसेकेन चेत्यस्माद् वातकोपभयेन वा ॥ २३ ॥

कायेऽभ्यंगोऽथवासेकः स्नेहैर्युक्तैः सुसाधितैः ।
क्रियते युगपत् प्रायो वृद्धवैद्यैः समाहृतः ॥ २४ ॥
सेके प्रवर्तमानेऽथ पार्श्वयोरुपचारकौ ।
एकैकश्चोक्ततैलेन कोषणेनाभ्यज्य मर्दयेत् ॥ २५ ॥

इसमें यदा कदाचित् वात-प्रकोप का भय उत्पन्न हो तो मूर्धसेक के साथ शरीर में (उचित विधिपूर्वक सिद्ध हुए) स्नेहद्रव्यों द्वारा अभ्यंग अथवा सेक भी एक ही साथ चालू कराया जाता है । प्रायः वृद्ध अतुभवी वैद्य ऐसा कराते हैं । सेक-क्रिया के समय रोगी की दोनों बगलों में दो सेवक रहेंगे । उन्हें प्रत्येक को उक्त गुनगुने तेल से अपनी-अपनी और रोगी के अङ्गों में मालिश करनी चाहिये । समान स्पर्श द्वारा हाथ नीचे की ओर चलाते हुए यह क्रिया सुसंपन्न करनी चाहिए ।

अधस्संवाहनेनैव समस्पर्शेन पाणिना ।
शीतस्य चोषणीकरणे तैलस्यान्योऽथ सर्वदा ॥ २६ ॥
सज्जी भवेत् समोषणं च समोन्मर्दे सुखावहम् ।
सर्वांगव्यापकं सुबज्यात् रोगिणोऽभ्यज्ञनं क्रमात् ॥ २७ ॥
धारां समाप्त्य कालेऽथ बहिराकृष्य शरावकम् ।
उच्चस्य शीर्षमासीनं द्रोण्यां च परिचारकः ॥ २८ ॥

और एक तीसरा सेवक होना चाहिए जो कि तेल ठंडा हो जाने पर उसे तुरन्त पुनः गरम करके देता जाय । गुनगुने सिद्ध तेल से समान स्पर्श द्वारा की हुई मालिश ज्यादा सुखकारी होती है । इस प्रकार क्रमशः रोगी के संपूर्ण देह में सब और विस्तार करते हुए तेल-मर्दन करना चाहिये । ठीक समय के भीतर 'धारा-क्रिया' समाप्त हो जाने पर द्रोणी-स्थित रोगी के सिर की ओर टैंगे हुए शराव को खींचकर बाहर रखवा दें एवं रोगी के सिर को सेवक कस्त्रखंड से अच्छी प्रकार पोछ दें ।

वस्त्रवण्डैराशु मृष्टवा शीर्षमस्य यथोचितम् ।
स्नेहद्रवादि निशेषमपनीय यथासुखम् ॥ २६ ॥
मृधिन दद्यात् पुनस्तैलं ततः स्नानं समाचरेत् ।
यथोक्तैश्च द्रवैस्माधु पूर्वमेव तु सज्जितैः ॥ ३० ॥
स्नात्वा चानुभजेत् सम्यक् स्नेहपान-विधानतः ।
औषधान्नविहारांश्च संयतात्मा तुरस्सदा ॥ ३१ ॥

स्नेहद्रव्य आदि जो शेष बचे उसे भी ठीक से लेजाकर यथास्थान सुरक्षित रख दे । तत्पश्चात् रोगी के सिर में पुनः तेल लगावे और तब स्नान करावे ।

पहले से ही विधिपूर्वक तैयार कर रखे हुए द्रव्यों द्वारा स्नेहपान-पद्धति से स्नान कराकर रोगी को भलीभांति संयम से रखना चाहिए । ओषधि सेवन तथा खान-पान, आहार-निवाहर में हमेशा सावधानी रहनी चाहिये । यहां हमने साधारण संकेत कुछ कर दिया है । किन्तु अवस्थाभेद के अनुसार विशेष नियमों का पालन स्वयं ही करना होगा ।

इति सामान्यतः प्रोक्तं किंचावस्थानुसारतः ।
सर्वमेव विकल्प्यं स्याद् युक्त्यैव हि भिषग्वरैः ॥ ३२ ॥

उत्तम वैद्यों को युक्तिपूर्वक सभी द्रव्यों एवं विधियों का यथायोग्य अबलंबन करना चाहिये । ठंडे द्रव का प्रयोग सर्वांग-सेक के लिये प्रायः इष्ट नहीं होता है ।

सर्वाङ्गसेकः (कायसेकः)

सर्वांगसेके प्रायेण नेत्र्यते शीतमेव यत् ।

तक्रधाराद्रवं चैवं क्षीरकेरोदकादिकम् ॥ १ ॥

तक्रनिर्मित धाराद्रव, दुध, नारियल का पानी, कांजी इत्यादि किंचित् गुनगुणे गरम करके सेक में प्रयुक्त किये जाते हैं ।

सुखोष्णैः कांजिकाथैस्तु क्वचित् सेको विधीयते ।

कनिष्ठमानच्छिक्रैस्तु गलन्तीभिः सुखस्त्रैः ॥ २ ॥

कनिष्ठिका लंगली के बराबर मोटे छिद्र में से अच्छी प्रकार से चूस के ऐसे स्नेहद्रव (हल्के गाढ़े पतले) होने चाहिये । कायसेक के लिये विशेष स्नेहों का ही उपयोग किया जाता है ।

तथापि काये सेकस्तु स्नेहैरेव विशिष्यते ।

अतोऽस्य विधिरेवात्र नातिसंक्षेपमुच्यते ॥ ३ ॥

इसलिये यहाँ पर उसकी विधि को हम विस्तारपूर्वक बताते हैं । स्नेह-कर्म दो प्रकार का होता है (१) आंतर स्नेहन (भीतरी) (२) बाह्य-स्नेहन (बाहरी) ।

स्नेहनं द्विविधं प्रोक्तमान्तरं बाह्यमित्यपि ।

अच्छपेयादिकं शास्त्रेष्वान्तरं बहुशः स्मृतम् ॥ ४ ॥

आन्तरिक स्नेहन के लिये शास्त्रों में अनेक अच्छे पेय आदि पदार्थ गिनाये हैं । इस काय-सेधन-कर्म में प्रायः बाह्य-स्नेहन ही की अधिक आवश्यकता होती है ।

बाह्यस्नेहेषु मुख्योऽयं परियेको विधीयते ।

आयामामये शोषवाते पक्षाधातेऽपबाहुके ॥ ५ ॥

आन्तेपके चापतन्त्रे जिह्वास्तम्भे हनुम्रहे ।

गृध्रस्यामपि विश्वाच्यां रक्तवातादितादिषु ॥ ६ ॥

कर्म्मेस्तम्भे प्रसुष्टौ च संसव्यासव्यथादिषु ।

सर्वांगकांगके वाते गुल्ममेहादिकेष्वपि ॥ ७ ॥

स्नेहयोगेषु सर्वेषु व्याधिष्वपि यथायथम् ।

प्रायशो मूर्धसेके तु तैलं स्नेहेषु सम्मतम् ॥ ८ ॥

कायसेके यथायोग्यं युद्धयात् स्नेह-चतुष्टयम् ।

यथोक्तौषधसंसिद्धं तैलं च यमकं तथा ॥ ९ ॥

त्रिवृतं वा महास्नेहं दोषरोगस्वभावतः ।

उष्णं कोष्णमनुष्णं वाऽप्यशीतं शीतमेव वा ॥ १० ॥

सार्धं वापि सपादं वा प्रस्थमात्रं च मानतः ।

योद्यं स्यादातुरस्येह स्थौत्यायामविभेदतः ॥ ११ ॥

आयाम शोष-वात, पक्षाधात, अवबाहुक, आक्षेप, अपतंत्रक जिह्वास्तर्भं, हनुम्रह, गृध्रसी, विश्वाची, रक्त-वात, अर्दित, कम्प, स्तंभ, प्रसुष्टि, संसव्यथायें, सर्वांगवात, एकांग-वात, गुल्म, मेह आदि समस्त स्नेहनयोग्य रोगों में एवं प्रायः मूर्ध-सेक में स्नेहन-द्रव्यों में तैलों का ही उपयोग, जो जहाँ उचित हो उत्तम माना जाता है । कायसेचन में चार प्रकार के स्नेह द्रव्यों को यथायोग्य उपयोग में लाना चाहिये (१) विधानोक्त ओषधि के साथ पकाकर सिद्ध किया हुआ तेल (२) यमक-स्नेह (३) त्रिवृत-स्नेह (४) महास्नेह (ये हैं-चतु: स्नेह) दोष तथा रोग के स्वभावानुसार इनका चुनाव करना चाहिये । तेल जहाँ जैसा इष्ट हो उष्ण या किंचित् उष्ण, अनुष्ण या अशीत अथवा शीतल लेना चाहिये । सात सौ नव सौ या ग्यारह ही मिं लिं तेल रोगी के देह की मुटाई तथा लंबाई के हिसाब से यथायोग्य मात्रा में प्रयोग करना उचित है ।

प्रायेण तक्रधारोक्तः कालोऽत्रापि दिनक्रमात् ।

किंचायामापतन्त्रादौ यासान्तमपि चेष्यते ॥ १२ ॥

सायं प्रातश्च युक्ता वा रोगगौरव-भेदतः ।

पूर्वोक्तविधिवत् सर्वं कृत्वा स्वस्त्ययनं विधिम् ॥ १३ ॥

रोगिणं कृतसंशुद्धिं द्रोण्यां प्राडु मुखमास्थितम् ।

कृत्वाऽस्य मूर्धिं दक्ष्वा च तैलं वैद्योऽथ निश्चितम् ॥ १४ ॥

वैद्यखण्डसुवर्त्योऽथ ललाटे साधु-वेष्टिते ।

सम्यग्भ्यज्य सर्वांगं सोपधानं यथासुखम् ॥ १५ ॥

तक्रधारा-विधान में कहा हुआ समय-दिवस-क्रम से इस सेचनकर्म के लिये उपयुक्त माना है । किन्तु आयाम, अपतंत्रक आदि रोगों में तीन घंटे तक का समय आवश्यक होता है । रोग हल्का या भारी जैसा हो उसी के हिसाब से प्रातःकाल में अथवा सायंकाल में प्रयोग करना चाहिये । पूर्वकथित विधि के अनुसार सब मंगलाचरण कृत्यों से रोगी को शुद्ध संस्कारित करके द्रोणी में पूर्वाभिमुख बैठाकर वैद्य उसके सिरपर निर्धारित तेल लगावे । रोगी के कपाल पर से वस्त्र के टुकड़े की लम्बी बटी हुई गोड़ी भलीभांति चारों तरफ लपेटी होनी चाहिये ।

उत्तानं-शायितस्यास्य हस्तपादौ प्रसार्य च ।

पार्श्वयोरुभयोश्चापि पृथग् द्वौ परिचारकौ ॥ १६ ॥

सुखासीनो यथैकस्तु नाभेरुद्धर्वं च दक्षिणम् ।
बाहुं च सिंचेदन्यस्तु वामपाश्वं तथैव च ॥ १७ ॥
नाभेरुद्धर्वं च शाखायामेकैकोऽपि च भागयोः ।

फिर तकिया के सहारे आराम से लेटे हुए रोगी के समस्त शरीर में वैद्य जी तेल लगवावें । रोगी के हाथ-पांव पसारकर उत्तान लिटाकर दोनों बगलों में दो परिचारक सेवक सुखपूर्वक बैठकर सेचनकिया करें । एक परिचारक नाभि के ऊपर के अङ्गों में तथा दाहिने हाथ में तथा दूसरा जन नाभि के नीचे वाले अङ्गों में बाईं बगल से सेचन-कार्य करें । एक-एक थंग में यथोचित विधान से दोनों को अलग-अलग अपना कार्य करना चाहिये । वह इस प्रकार करें :—

चतुरंगुलविस्तीर्णमधींगुलघनं समम् ॥ १८ ॥
वस्त्रखण्डपुटं सम्यग् गृहीत्वा वामपाणिना ।
स्नेहं निमज्ज्य तेनैव तत्तद्भागेऽवसिञ्चय च ॥ १९ ॥
निष्पीड्य युगपत् स्वस्य पाणिनाऽन्येन युक्तिः ।
संवाहेच्चानुलोभं भूयो भूयः प्रसेचनम् ॥ २० ॥
अनुस्थूतं सुखोन्मदं समोषणं च सुखावहम् ।
सर्वागव्यापकं कुर्यात् क्रियाकौशल-योगतः ॥ २१ ॥
द्रोणीस्तुं स्नेहमन्यः साधुद्धृत्यान्तरान्तरा ।
उच्छिणीकृत्य च भूयोपि दृद्याच्च सुकरं तथा ॥ २२ ॥
उक्तकालमविच्छिन्नं कर्म साधु यथोचितम् ।
किञ्चित् कालात् परं चैनं दक्षपाश्वेन शायितम् ॥ २३ ॥
चरणौ व्यत्योकृत्य यथापूर्वं क्रियां चरेत् ।
तद्वच्च वामपाश्वेन शयीतं च ततः परम् ॥ २४ ॥
अधोमुखं चापि तद्रुतं पुनश्चोत्तानतस्तथा ।
स्थानान्तराश्रयश्चैवमिष्यते परिचारकैः ॥ २५ ॥
तथैव काये सर्वत्र समस्पर्शसुमर्दनैः ।
व्याप्तं स्यात् तुल्ययोगेन स्नेहं साधु-कृता-क्रिया ॥ २६ ॥

चार अंगुल चीड़ी, आधा अंगुल मोटी समान लपेटे हुए वस्त्रखण्ड की पतंदार पोटली बनाकर उसे परिचारक बायें हाथ से अच्छी प्रकार स्नेहन-द्रव में भिंगाकर उससे उस उस अङ्ग में सेक-कर्म करे । साथ-साथ दूसरे हाथ के सहारे कौशलपूर्वक उस पोटली को निचोड़ कर बारम्बार नीचे की ओर हाथ चलाता जाय । इस प्रकार से अच्छे निपुण ढंग से किया हुआ सेचन-कर्म रोगी के समस्त अङ्गों में समान ऊप्ता तथा सुख की प्रतीति वैदा करेगा एवं सेचन-

द्रव्य सारे शरीर में आराम के साथ पैठता जायगा । तीसरा और परिचारक द्रोणी में गिरे हुए स्नेह-द्रव्य को सावधानी से उठाकर बीच-बीच में गरम करके देता जाय । उक्त समय के भीतर अखण्ड गति से सुचारु रूप से यह प्रयोग चलाते हुए कुछ समय बाद रोगी को दाहिने करवट लिटाकर पैर उलट-पलट करते हुए पूर्वंत त्रिया करनी चाहिये । उसी प्रकार बायें करवट में लिटाक करें । फिर आँधा लिटाकर करें । यह सब करते हुए परिचारकों को यथेष्ठ सुखकर ढंग से स्थान-परिवर्तन करते जाना चाहिये । सर्वत्र समान स्पर्श एवं आरामप्रद मर्दन द्वारा पूरे शरीर में स्नेह-द्रव्य का प्रभाव फैल जाना चाहिये । तभी समझो सेक-कर्म ठीक सम्पन्न हुआ ।

कायसेकेन-सहिता मूर्ध्नि धारा यदीष्यते ।

उत्तानशायितस्याथ नेष्टं पार्श्वादिकं क्रमम् ॥ २७ ॥

यदि काय-सेचन के साथ मूर्ध-धारा का भी प्रयोग अभीष्ट हो तो रोगी को उत्तान ही लिटाकर इसे करना चाहिये । तब करवट बदलना नहीं चाहिये ।

आदावन्ते च धारायाः किञ्चित् कालं विशेषतः ।

पाश्वंपृष्ठादिभागेषु युक्तच्च तत्र क्रियां चरेत् ॥ २८ ॥

क्रियान्ते चोपविष्टस्य स्कन्धपृष्ठादि मर्दयेत् ।

सर्वं स्यात् तकधारोत्कं स्नानाद्यं चौतरांगिकम् ॥ २९ ॥

मूर्ध-धारा में पहिले अथवा बाद में कुछ समय तक विशेषतः बगलों में तथा पीठ आदि अङ्गों में कौशलपूर्वक सेचन-क्रिया कर लेनी चाहिये । क्रिया प्रायः समाप्त होने पर रोगी को उठाकर बैठा देना चाहिये और पीठ, कंधे आदि की पुनः ठीक से मालिश करना चाहिये । फिर अन्त में तक-धारोत्क विधान से स्नान आदि करना चाहिये ।

रोगस्वभावान्नेष्टे तु स्नाने तत्राचरेत् तदा ।

वस्त्रखण्डैश्चाभिमृश्य मूर्धनः कायाच्च सर्वथा ॥ ३० ॥

स्नेहाद्यं चापनीयाशु यथोक्त-विधिना ततः ।

हिताहारविहारी स्यादातुरस्तु भिषग्वशः ॥ ३१ ॥

यदि किसी रोग के हिसाब से यह अन्तिम स्नान हितकर न हो, तो उसे नहीं करना चाहिये । केवल वस्त्रखण्ड से सिर तथा सारा शरीर रगड़कर पीछे देना चाहिये । वहां से यथाशीघ्र स्नेह आदि द्रव्यों को हटाकर यथास्थान रख दें । फिर वैद्य द्वारा निर्दिष्ट विधान के अधीन चलते हुए रोगी को ठीक-ठीक आहार-विहार का सेवन करना चाहिये ।

प्रत्यहं नूत्र एवात्र स्नेहः स्थादिति सम्मतः ।
तथापि चाद्यदिवसे यावदूनं क्रियावशात् ॥ ३२ ॥
तावन्मात्रं नवं दत्त्वा द्वितीये कर्म कुर्यते ।
तृतीये तद्वदेवाहि चतुर्थे सकलं नवम् ॥ ३३ ॥

इस स्नेहन-कर्म के लिये प्रतिदिन नया (ताजा ही) स्नेह द्रव्य प्रयोग में लाना चाहिये ऐसा माना गया है । तथापि क्रिया समाप्त होने पर प्रथम दिन यदि कुछ स्नेहद्रव बच जाय, तो दूसरे दिन उसमें उतनी मात्रा में नया द्रव मिलाकर काम चला लेना चाहिये । दूसरे दिन तथा तीसरे दिन भी आवश्यकता पड़ने पर वैसे ही परिपूर्ति कर ले किन्तु फिर तीये दिन पहिले दिन का वासी स्नेहद्रव काम में न लाकर कत्तई नया द्रव पूरा का पूरा लेना होगा ।

पंचमेऽपि च षष्ठे च क्रमादूनप्रपूरणात् ।
तृतीयेऽपि च षष्ठेऽथ प्रयुक्ताभ्यां सुमिश्रितम् ॥ ३४ ॥
सप्तमेऽहि प्रयुज्यन्ते सर्वथा तत् त्यजन्त्यतः ।
भूयोऽप्येवं द्वितीयेऽपि सप्ताहे वा तृतीयके ॥ ३५ ॥
स्वभावाचार-वशातो नानिष्टं तं क्रमं विद्धुः ।
भिषजस्साधु संचिन्त्य कुर्युस्सर्वं यथोचितम् ॥ ३६ ॥
एवमेकांगसेकोपि तत्तदोग्नेषु चेष्यते ।
दोषरोगस्य भावेन स्थानावस्थादिभेदतः ॥ ३७ ॥
द्रवकालविशेषादीन् विकल्प्याथ क्रियाक्रमम् ।
कुर्याच्च विहितं सर्वं युक्तिः कुशलो भिषक् ॥ ३८ ॥

पांचवें दिन तथा छठे दिन भी (वचे हुए वासी स्नेह-द्रव्य को) पूर्ति से काम में ला सकते हैं । तीसरे दिन तथा छठे दिन भी मिलावटाला द्रव प्रयोग कर सकते हैं । परन्तु सातवें दिन (चतुर्थ दिन के जैसा) बिलकुल नया स्नेहद्रव ही पूरा काम में लाना उचित है । तब मिश्रितद्रव को उस दिन बिलकुल त्याग देना चाहिये इसी क्रम से प्रथम सप्ताह में अथवा तृतीय सप्ताह में भी करना चाहिये । इस प्रकार जिस क्रिया-विधान-द्वारा रोगी का अनिष्ट न हो, वैसी ही व्यवस्था ठीक समझ-बूझ कर वैद्यों को रोगी के लिये करानी उचित है । एकांगसेक-क्रिया भी उस उस विशिष्ट अन्न के हिसाब, दोष और रोग के अनुसार स्थल और अवस्था को समझते हुए करानी चाहिये । कुशल वैद्य का कर्तव्य है कि सेचन-क्रिया संबन्धी द्रव, काल तथा वैशिष्ट्य इस सबका यथेष्ट ज्ञान रखें एवं जो जहां जैसा उचित हो उसी विधान से सर्वहितकर चिकित्सा करें ।

पिण्ड-स्वेदः

स्वेदस्तापोपनाहोऽमद्रवभेदांन् चतुर्विधः ।
तत्राष्ट्रधा चोष्मभेदाः पिण्डसंस्तरकादिभिः ॥ १ ॥
(१) ताप (२) उपनाह (३) ऊष्म (४) द्रव इन भेदों को लेकर पिण्डस्वेद चार प्रकार का है । इसमें पुनः पिण्ड, संस्तरक आदि भेदों से उष्ण के आठ उपभेद हैं ।

‘पिण्डस्वेद’ चित्र—



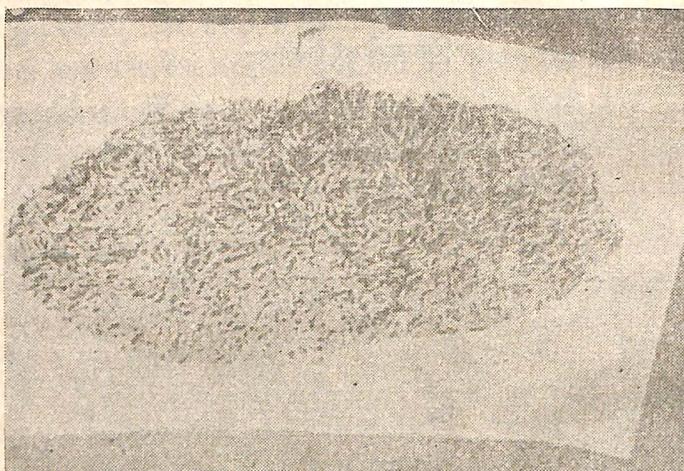
मधुमेहज तंत्रिका-व्यापद में :—पिण्ड-स्वेद से प्रगति हो रही है ।

तिलमाषकुलत्थाम्लघृततैलामिषौदनैः ।
पायसैः कृसरैर्मासैः पिण्डस्वेदं प्रयोजयेत् ।
इत्युक्तविधिनैवत्र दोषदूष्यादिभेदतः ।
व्याध्यवस्थाविशेषांश्च सम्यक् संचिन्त्य युक्तिः ॥ ३ ॥
पिण्डस्वेदविशेषोऽत्र वाष्टिकैरथं पायसैः ।
प्रत्येकविधिना सिद्धैः केरलीयैः समाप्तः ॥ ४ ॥

यहां बताई हुई विधि से, दोष, दूष्य आदि के पृथक् ज्ञान से रोगों की अवस्था-विशेषों को भली प्रकार समझाते हुए वैद्य को कौशलपूर्वक पिण्डस्वेदकर्म

के लिए तिल, उड़द, अम्ल, तैल, मांस, भात, खीर, खिचड़ी—आदि का प्रयोग करना चाहिये। केरल-निवासियों से अपनायी हुई पिण्ड-स्वेद-प्रक्रिया की अपनी एक विशेषता है। उसमें साठी चावल (षष्ठिक शालि) की पकायी हुई पायस (खीर) प्रयोग में लायी जाती है।

षष्ठिक-शालि:



साठी चावल

केवलं न तु पूर्वागः स्वेदसेचनकर्मणाम् ।
विशेषविधिनैवातो गण्यते विकुर्वैरयम् ॥ ५ ॥

यह 'स्वेद-कर्म' सेचन-कर्म का केवल एक पूर्वाग मात्र नहीं है। अतः विद्वानों ने इसकी विशेष विधियों में गणना की है।

सर्वागैकांगशोषे वा घोरेष्वप्यनिलार्तिषु ।
आयामाद्येपसंकोच-स्तम्भपक्षवधादिषु ॥ ६ ॥
चिरकाल-भवेष्वेषं गुल्मशूलादिकेष्वपि ।
स्वेदाग्नेषु सर्वेषु यथावस्थं प्रयुज्यते ॥ ७ ॥

सर्वाग-शोष, एकांग-शोष, भयंकर वात-वेदना, आयाम, आक्षेप, संकोच, स्तम्भ, पक्षाधात इत्यादि व्याधियों में एवं प्रायः दीर्घ-काल होने वाले गुल्म, शूल आदि सभी स्वेदन-कर्म के योग्य रोगों में अवस्थानुसार इस पिण्डस्वेद-प्रक्रिया का प्रयोग किया जाता है। विधि आगे बताते हैं।

क्वाथयेद् द्वादशपलं बलामूलाद् यथाविधि ।
इयाद्वके सलिले यावद् त्रिप्रस्थं चावशेषितम् ॥ ७ ॥
सार्धप्रस्थे ततः क्वाथे दत्त्वा क्षीरं च तत्समम् ।
वर्षोषितात् षष्ठिकाख्याद् निस्तुषं शुद्धतण्डुलम् ॥ ८ ॥
गृहीत्वा द्वादशपलं मन्दाग्नावथ पाचयेत् ।
दर्ढ्या विचालयन् सम्यक् स्त्यानं नाधस्तु भाजने ॥ १० ॥

५७६ ग्रा० बरियार की जड़ लेकर २३०४ मि० लीटर जल में डालकर आग पर विधिपूर्वक क्वाथ (काढ़ा) पकावे। जो कि बाकी बचे चतुर्थांश उतना ही दुग्ध मिश्रित करे और उसमें एक वर्ष पुराना साठी चावल (भूसी रहित स्वच्छ) ५७६ ग्राम डालकर मंद आंच पर पायस तैयार करे।

दग्धं वा न भवेत् साधु पिण्डितं पायसौदनम् ।
बीच-बीच में उसे कलझुली से अच्छी प्रकार चलाता जाय ताकि बत्तन की पेंदी में यह चिपट न जाय अथवा जल न जाय।

यथा तावत् पाकतो वा निःशेषं प्रायशो द्रवम् ॥ ११ ॥
कृत्वाऽष्टौ च ततः पिण्डान् भक्तात् तुल्यविभागतः ।
वस्त्रखण्डेस्सुनूत्नेऽथ पिण्डमेकैकमेव तत् ॥ १२ ॥
समं बद्ध्वा चाष्टमूलीर्णोलाकारोः सवृन्तकाः ।
सुहृष्टश्लहणसूत्रेण नातिशलथघनाः क्रमात् ॥ १३ ॥
कुर्यात् साधु विशेषेण सुप्रहाः सुकरा यथा ।
द्रोण्याद्यवश्यसंभारान् संभृत्याथ भिषग्वरः ॥ १४ ॥
अवश्यकार्यं संभाव्य कृतमंगलमातुरम् ।

द्रवांश समाप्त होकर गाढ़ा पायसान्न सिद्ध हो जाय तब उसके आठ समान भाग करके आठ पिण्ड बनावे। नवीन वस्त्र के दुकड़ों से अलग-अलग एक-एक पिण्ड लपेटकर मजबूत पतले डोरे की सहायता से गोलाकार (किन्तु पकड़ते बने ऐसी) छोरदार अच्छी पोटलियां तैयार करे। पोटली को डोरे से बहुत ज्यादा न कसे या बहुत ढीली भी न रखे। जिसमें सुविधापूर्वक हाथ में पकड़कर काम में लायी जा सके। द्रोणी आदि आवश्यक वस्तुएं इकट्ठी करके उत्तम चिकित्सक आवश्यक कर्म के संकल्पपूर्वक रोगी को मंगलाचरण करावे।

धारोक्तविधिवद् द्रोण्यां प्राङ्मुखं चोपचेशयेत् ॥ १५ ॥
ततोऽस्य मूर्धिन दत्त्वा च तैलंसिद्धं यथोचितम् ।
ललाटे वेष्टयित्वाऽथ वस्त्रखण्डेन युक्तिः ॥ १६ ॥

धाराक्रम में बताये हुए विधान से उसे द्वोणी के अन्दर पूर्व दिशा की ओर मुख कराके बिठावे । तत्पश्चात् उसके सिर में औषधसिद्ध तैल लगावे, कपाल पर से चारों ओर युक्ति-पूर्वक वस्त्र की गुमटी लपेटी होनी चाहिये ।

सम्यग्भ्यज्य सर्वांगं कायसेक-विधानवत् ।

कुशलौ द्वौ पृथक् स्यातां पार्श्वयोः परिचारकौ ॥ १७ ॥

दो कुशल परिचारक सेवक दोनों बगलों में अलग-अलग ठीक से बैठकर रोगी के सर्वांग में तेल लगावें । तत्पश्चात् पोटलियों का प्रयोग आरम्भ करे ।

पञ्चकिंजिः—



पक्षाधात के रोगी में पञ्चकिंजि का व्यवहार

बलाक्वाथेऽवशिष्टेऽथ तावत् क्षीरसमन्विते ।

पिण्डमूतीःचतस्रोऽपि पंचमः परिचारकः ॥ १८ ॥

पक्त्वा दद्याच्चतुर्भ्योऽपि धृत्वोणास्ताशरावके ।

पृथग् मूतीं गृहीत्वाऽथ स्वस्थाने परिचारकः ॥ १९ ॥

सहोषणं चातुरस्याथ कण्ठाधस्साधु मर्दयेत् ।

सम्पीड्य काये मूतीं च सोषणां संवाहयेदधः ॥ २० ॥

समोन्मर्दं सुखस्पर्शं समस्थानाभिमर्शकम् ।

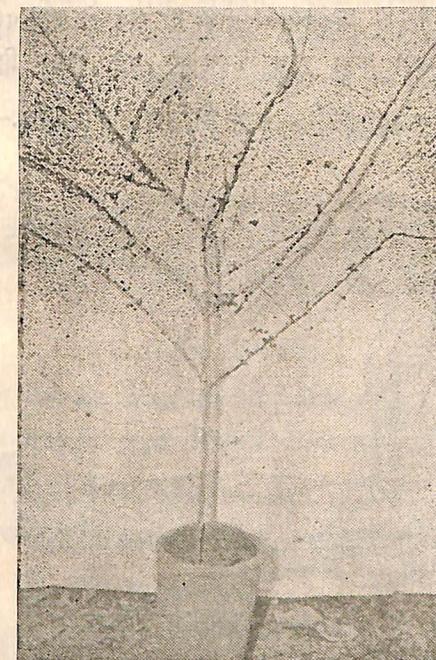
अविच्छिन्नं यथाकर्म यावत् कुर्याच्च तावता ॥ २१ ॥

मूतीरन्याशचतस्रोऽपि साधु पक्त्वाऽथ पूर्ववत् ।

दद्याद् गृहीत्वाऽनुत्तापाः भूयस्तप्ता यथाक्रमम् ॥ २२ ॥

बरिहार (बला) के बचे डेढ़ किलो क्वाय में सम-भाग दूध मिलाकर आग पर कढ़ाही में चढ़ावें । उसमें चारों पिण्ड-पोटलियाँ डालकर पकाकर तीसरा परिचारक उन्हें गरम-गरम लाकर पाश्वस्थ सेवकों को देता जाय । पाश्वस्थ परिचारक अपनी जगह पर बैठें-बैठें अलग-अलग पोटली को पाकर जितने में रोगी को सहन हो सके उस प्रकार गरम दशा में ही उसके कंठ के नीचे की ओर के अङ्गों में मले । निचोड़ते हुए ढंग से देह में पोटलियों को नीचे की ओर भली प्रकार अपनी-अपनी ओर फेरते जायें । यह मर्दन समान और सुखकारी स्पर्शवाला होना चाहिये । यह क्रिया बराबर अखंड रूप से चलानी चाहिये । शेष चारों पोटलियाँ भी इसी प्रकार पकाकर बार-बार गरम करके काम में लानी चाहिये ।

बला-वृक्षः—



बला (बरियारा) का वृक्ष

बला (सं०) कुरुत्ताठिद् (मल०) बरियारा (हि०) चिकण (म०) बलदाण (गु०) कसंगि (क०) चिरिवेण्डा (ते०) अखिल-मनैपुण्डु (ता०) खरेटी (मा०)

सेकवच्च निषण्णस्य ततश्चोत्तानशायिना ।
पाश्वादिशायिनश्चैवं साधु कुर्यात् क्रियाक्रमम् ॥ २३ ॥

सेक-कर्म में जैसे रोगी को कभी बैठाकर कभी चित्त (उत्तान) लिटाकर, कभी करवट लिटाकर, कभी औंधा सुलाकर सुन्दर पद्धति से यह 'पिण्ड-स्वेद-कर्म' संपन्न करना चाहिये ।

मूर्ती निष्पीड्य वामेन पाणिना चान्तराऽन्तरा ।

साधु सम्मर्दयेत् काये तत्तदंगे सुखावहम् ॥ २४ ॥

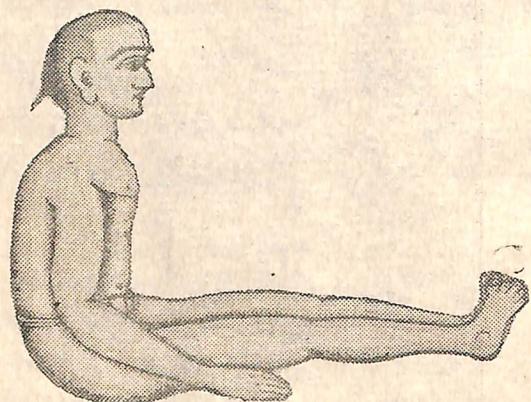
पोटलियों को परिचारकगण बायें हाथ से बीच-बीच में निचोड़ते जायं एवं उस-उस अंग में अच्छी प्रकार मलते जायें । जिससे रोगी को आराम लगे ।

यत्र पीडारुजादि स्यात् तत्र कुर्याद् विशेषतः ।

संवाहनाद्यं गाढं वा मृदु वौपशयात्मकम् ॥ २५ ॥

जिस किसी अंग में विशेषतया पीड़ा या रोग हो वहाँ पर विशेष कीशल से कहीं कोमल, कहीं कड़ा हाथ फेरते हुए यह क्रिया हितकारी बनावे ।

'पिण्ड-स्वेद' चिकित्सायां विभिन्न देह-स्थितिः—



प्रथमा देहस्थिति

मूर्तिपाकाद् बलाक्वाथो दुग्धवान् नावशिष्यते ।

प्रायस्त्वार्धमूहूर्तं च तावदेव क्रियं चरेत् ॥ २६ ॥

दुग्ध मिश्रित बरियार-काढा पोटलियों को पकाने की क्रिया से जबतक समाप्त न हो जाय तब तक यानी प्रायः ३ घटिका पर्यन्त यह क्रिया बराबर चालू रखें ।

क्रियावसाने ह्यासन्ने संक्षीणे क्वाथ-दुग्धके ।

ज्वलन्त्याः पाकपात्रेऽथ काले साध्ववतारिते ॥ २७ ॥

दुधयुक्त बला-क्वाथ समाप्त होकर यह स्वेदकम् जब पूरा हो चुकने का समय आ जाय, तब उबलते हुए पाक-पात्र को दक्षतापूर्वक नीचे उतार कर रख ले ।

मूर्तिद्वयं गृहीत्वाऽथ द्वाभ्यां च परिचारकाः ।

पाणिभ्यां युगपत् स्वस्य तत्स्थानेषु युक्तिः ॥ २८ ॥

फिर दोनों परिचारक दो पोटलियां एक साथ उस गरम पात्र से लेकर रोगी के उस-उस अङ्ग में युक्तिपूर्वक अपनी-अपनी तरफ कढ़ाई से फेरते जाय जिससे किं पायसान्न शरीर में भलीभांति लगता जाय ।

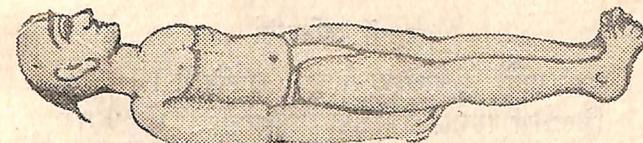
संवाहयेयुर्गांडं च विमृद्योगे तु सर्वतः ।

यथा स्यात् साधु संलग्नं पायसांशमर्शेषतः ॥ २९ ॥

मुखेऽपि युक्त्या मृदूनीयाद् मन्दमेव यथासुखम् ।

किंच मूर्धिन् प्रयोगोऽयं प्रायशो न च दृश्यते ॥ ३० ॥

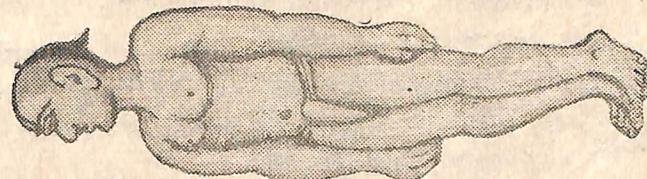
'पिण्ड-स्वेद' चिकित्सायां देह-स्थितिः—



द्वितीया देहस्थितिः

मुख पर भी रोगी को अच्छा लगे ऐसे कीशल से हल्के हाथ से धीरे-धीरे मर्दन करना चाहिये । किन्तु इस पिण्डस्वेद-क्रिया का प्रयोग मस्तक के ऊपर करते हुए नहीं देखा जाता ।

'पिण्ड-स्वेद' चिकित्सायां देह-स्थितिः—



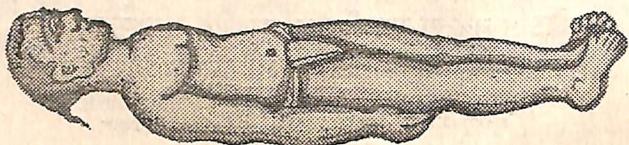
तृतीया देहस्थितिः

उपस्थिताऽथ कुशलः साधुकर्म समाप्य च ।
नालिकेरादिपत्राणां पालीभिरवकृष्य वा ॥ ३१ ॥

गात्रावलग्नमन्नाद्यं व्यपनीयाशु युक्तिः ।
वस्त्रखण्डैश्चाभिमृश्य पुनरभ्यज्य सर्वतः ॥ ३२ ॥
धारोक्तकमतश्चैनं स्नपयेच्च ततः परम् ।
विधिं च स्नेहपानोक्तमाचरेच्च यथायथम् ॥ ३३ ॥

परिचारक को भलीभांति यह किया समाप्त करके ताडपत्र या नारिकेल के पत्तों की बनी पालियों से खरोंचकर देह में लिपटे हुए अब आदि को युक्ति से पोंछकर हटा देना चाहिये । किर वस्त्र-खण्ड से शरीर पोंछकर साफ कर देना चाहिये और पुनः रोगी के शरीर में सर्वत्र तेल लगाकर धारा-विधान के अनुसार ही रोगी को स्नानादि करावे । एवं स्नेह-पानोक्त विधि का समुचित पालन करावे ।

‘पिण्ड-स्वेद’ चिकित्सायां देह-स्थितिः—

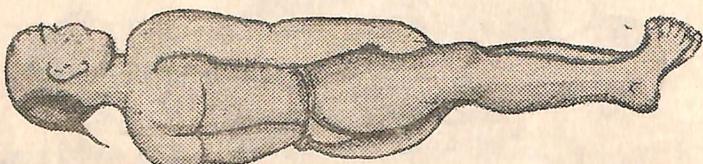


चतुर्थी देहस्थितिः

एवं माषैः कुलत्यैश्च गोधूमैः सर्षपैरपि ।
तिलमेथीशताहाद्यैर्मासैराजाविकुक्तुः ॥ ३४ ॥
केवलैर्वा युतेवांपि षष्ठिकैर्वा समन्वितैः ।
रोगस्वभाववशतः पक्त्वा साधु यथाविधि ॥ ३५ ॥

इस प्रकार उड़द, कुलथी, गेहूं, सरसों, तिल, मेथी, सौंफ आदि द्वारा तथा भेड़, बकरी आदि के मांस-द्वारा किसी एक ही द्वारा या एक साथ दो चीजें मिलाकर अथवा कई चीजें एक साथ लेकर उसमें साठी चावल डालकर रोग के स्वभाव-नुक्त भली प्रकार पकाना चाहिये ।

‘पिण्ड-स्वेद’ चिकित्सायां देह-स्थितिः—

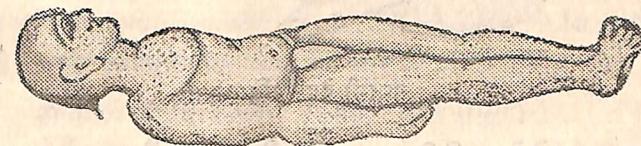


पञ्चमी देहस्थितिः

वराहकुक्कुटादीनां मांसात् कृत्वा रसेन वा ।
बलाक्वाथयुतेनापि दशमूलादिजेन वा ॥ ३६ ॥
क्षीरेण वा केवलेन युक्तेन विपचेत् पुनः ।
षष्ठिकादीश्च विधिना कुर्यात्तेन क्रियाक्रमम् ॥ ३७ ॥

वराह, भेड़, बकरी आदि के मांस के साथ या रस के साथ अथवा बरियार के क्वाथ के साथ अथवा दशमूलादि काढ़े के साथ या केवल दूध के साथ भी साठी चावल पकाकर विधिपूर्वक उक्त कर्म करना चाहिये ।

‘पिण्ड-स्वेद’ चिकित्सायां देह-स्थितिः—

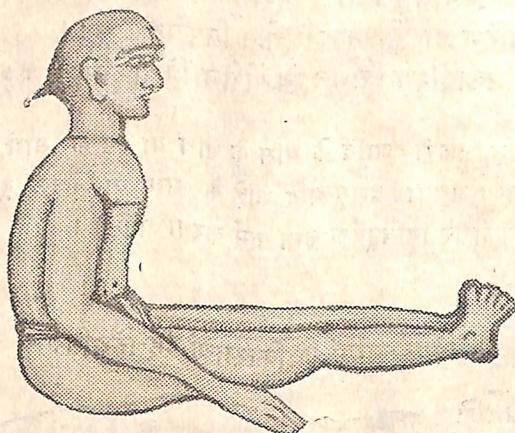


षष्ठी देहस्थितिः

तन्द्राश्रमश्लमहरं साधुनिद्राप्रवर्तकम् ।
अग्निदीप्तिकरं यावदामदोषहरं परम् ॥ ३८ ॥
अन्नाभिलाषजनकं स्रोतःशोधनमुत्तमम् ।
त्वक्प्रसादकरं चैवमंगमर्दहरं तथा ॥ ३९ ॥
तनोश्च मार्दवकरं स्तव्यसन्धिप्रवर्तकम् ।
मलानुलोमनं पथ्यं तुष्टिपुष्टिबलप्रदम् ॥ ४० ॥

विद्वान् लोग भली प्रकार जानते हैं कि यह पिण्ड-स्वेद-क्रिया तन्द्रा, परिश्रम, थकावट दूर करनेवाली, अच्छी नींद लाने वाली, पाचक अग्नि को बढ़ाने वाली, आमदोष को मिटाने वाली, अन्नभोजन में रुचि बढ़ाने वाली, अज्ज्वल को स्रोतों को शुद्ध करने वाली, त्वचा को सुन्दर बनाने वाली, अंग-व्यथा को हरने वाली, शरीर को कोमल चिकना बनानेवाली, देह के जकड़े स्थानों को खोलने वाली, मल को ठीक से बाहर निकालने वाली, तुष्टि, पुष्टि तथा शक्ति देने वाली एवं तुरन्त प्रत्यक्ष फल दिखाने वाली है ।

'पिण्ड-स्वेद' चिकित्सायां देह-स्थितिः—



सप्तमी देहस्थितिः

तत्तद्रोगेषु विधिवत् षष्ठिकायैः सुसाधितैः ।
दोषदूष्यादि-भेदेन यथावस्थं निषेवितम् ॥ ४१ ॥
दृष्टाऽशुफलदं नूनं पिण्डस्वेदं विदुर्बुधाः ।
एकांगोऽपि च सर्वांगे साधु युक्त्या प्रयोजयेत् ॥ ४२ ॥

देह के किसी एक अङ्ग पर या सभी अङ्गों पर कीशल-पूर्वक इस क्रिया का प्रयोग करना चाहिये ।

दोष-दूष्य आदि के भेदों की अवस्थाओं के अनुसार भिन्न-भिन्न रोगों में यथाविधि साठी चावल पकाकर पिण्डस्वेद-कर्म का प्रयोग करना चाहिये ।

— * —

अन्नलेपादिविधिः

अकालजरयाऽर्तानां व्याधिक्षीणशरीरिणाम् ।
शोषिणां क्षीणधातूनामन्नलेपो विधीयते ॥ १ ॥

जो लोग समय के पूर्व ही बुद्धापे से पीडित हो चुके हैं, जिनका शरीर रोग के कारण क्षीण हो चुका है, जिनकी धातुओं का क्षय हो रहा है, उन दुर्बल रोगियों के लिये अन्न-लेप चिकित्सा की विधि बताते हैं ।

पिण्डस्वेदविकल्पोऽयं तस्मान्नोनफलप्रदः ।
तद्वच्च षष्ठिकैर्युक्त्या पायसान्नं प्रकल्पयेत् ॥ २ ॥

यह अन्न-लेप-विधि पिण्ड-स्वेद का ही एक प्रकार है, जो कि उससे कम फलप्रद है । इसके प्रयोगार्थं साठी चावल की खीर बनानी चाहिये ।

सर्वांगाभ्यंजितं सम्यग् ललाटे वस्त्रवेष्टितम् ।
रोगिणं शायितं द्रोण्यां लिम्पेच्च परिचारकः ॥ ३ ॥

रोगी को द्रोणी के भीतर लिटाकर पहिले उसके सारे शरीर में तेल लगाना चाहिये । कपाल पर ठीक से बख्ल लपेट देना चाहिये फिर उक्त-पायस द्वारा परिचारक रोगी के शरीर में अन्न लेपन क्रिया या उबटन प्रारंभ करे ।

कोषणे न पायसाननेन सर्वांगं मूर्धवर्जितम् ।
कलिपतान्नस्य पादांशमादौ लिम्पेत् ततोऽस्य च ॥ ४ ॥

सिर को छोड़कर शेष सभी अंगों में गुनगुने पायसान्न का एक चौथाई अंश लेकर पहिले लेपन या उबटन करना चाहिये ।

शीतीभावे पुनश्चांशमुष्णीकृत्यानुलेपयेत् ।
एवं त्रिचतुरावृत्त्या कारयेच्च भिषक् क्रियाम् ॥ ५ ॥

पायसान्न यदि ठंडा हो जाय तो उसको फिर से गरम करके काम में लाना चाहिये । इस प्रकार तीन-चार बार आवृत्तिपूर्वक वैद्य इस प्रक्रिया को करावे ।

लिम्पांगस्तु शयानः स्याद् निश्चेष्ट इति केचन ।
अन्यैस्तु लिप्तसर्वांगे संवाहनमपीष्यते ॥ ६ ॥

लेपन कार्य होने पर कोई कोई वैद्य रोगी को स्थिर भाव से लेटे रहने के लिये कहते हैं । कोई सर्वांग-लेपन पश्चात् मालिश करते हैं ।

तत्रावस्थानुसारेण यथायोग्यमथाचरेत् ।
यामार्धं एव परमः कालोऽत्रापि बुधैः स्मृतः ॥ ७ ॥

इस क्रिया के लिये भी अधिक से अधिक डेढ़ घंटे का ही समय विद्वानों ने प्रशस्त माना है ।

क्रियान्ते पत्रपालीभिर्लेपाद्यमपनीय च ।
पुनरभ्यज्य सर्वांगं स्नात्वा चानु भजेत् क्रमम् ॥ ८ ॥

क्रिया समाप्त होने पर पतल आदि में भरकर लेप आदि दूर हटाकर रख देना चाहिये । फिर सारे शरीर में पुनः तेल-मदं न करावे । इसके बाद रोगी को स्नान करावे ।

पिण्डस्वेदविधानेन पथ्याहारविहारतः ।
तद्वच्च तत्तदंगेष्वप्यन्नलेपो हितः स्मृतः ॥ ९ ॥

पिण्डस्वेद कर्म में बताये हुए विधान के अनुसार उचित आहार-विहार का सेवन होना चाहिये । उसीके अनुसार उस उस अंग में अनुलेपन प्रयोग करने से लाभ होता है ।



शिरोलेपः

तक्रधारा-विधानेन सिद्धे प्रस्थार्ध-संयुते ।
तत्रे चतुष्पलमितं शुष्कधात्रीफलत्वचम् ॥ १ ॥
मृत्पात्रे वासितं रात्रौ पिष्टवा चाथ परेऽहनि ।
निरंबुचघनं सम्यक् द्रवस्थन्दपि नैव वा ॥ २ ॥

तक्रधारा की विधि से सिद्ध किये हुए आधा सेर तक्र में १९२ ग्राम सूखे आंवले के फल के छिलकों को मिट्टी के वर्तन में रात भर भिगो रखें और दूसरे दिन पीस लें । ऐसा ठीक पीसे कि उसमें जलांश नहीं के बराबर रह जाय एवं ऐसा गाढ़ा बने कि तरलता के कारण नीचे बह कर चू न जाय ।

अभ्यज्य मूर्ध्नि सुदिने कालेऽप्यावेष्ट्यवाससा ।
पिष्टादल्पं चोच्चभागे सिरशस्तु पुरस्ततः ॥ ३ ॥
भागे तु दक्षिणे पृष्ठे वासे च पुनरुच्चके ।
एवं क्रमात् शिरस्सम्यग्समन्नतात् समावृतम् ॥ ४ ॥
धात्रीकलकेन लेपस्यान्नोनांगुलघनस्ततः ।
म्लानेन रंभापत्रेण पद्मापत्रेण वा क्वचित् ॥ ५ ॥
कर्णपाली-सरण्याथ सादम् संवेष्ट्य युक्तिः ।
वधनीयादूर्ध्वतस्सम्यक् पत्रमौली यथातुरः ॥ ६ ॥
अभ्यज्येद्वा सर्वांगमासीनस्य यथासुखम् ।
शिरोमध्याच्चाल्पमंशं उक्तकालार्धतः परम् ॥ ७ ॥

शुभ दिन शुभ मुहुर्त में शिर में प्रथम तेल लगवावे । फिर वस्त्र द्वारा शिर को लपेट दे । उक्त पीठी को लेकर उसमें से थोड़ा अंश सिर के ऊचे भाग में लेपन करे । फिर आगे के भाग में तथा फिर दाहिने तथा फिर बायें एवं पुनः पूर्ववत् उच्च भाग में इस प्रकार सिर के ऊपर भलीभांति चारों तरफ लेपन करे । आंवले के कल्क का यह लेप एक अंगुल से कम मोटा न होना चाहिये । उसे कौशलपूर्वक सूखे केले के पत्तों से अथवा कमल के पत्तों से कर्ण-पाली के किनारे से अच्छी प्रकार लपेट देना चाहिये एवं ऊपर से ऐसे बांध दे जैसे पत्तों की मौर बांध दी हो । फिर सुखपूर्वक बैठे हुए उस रोगी के सर्वांग में तेल लगवावे । उक्त समय के आधे समय के बाद सिर के बीच से लेप का थोड़ा अंश निकाल ले तथा बदले में उस जगह नया लेप - द्रव्य थोप दे । ऐसा भी कहीं विधान है ।

निष्कास्य दध्यान्नूत्त्वांशं लेपस्येति क्रमः क्वचित् ।
यामार्धाद्वा मुहूर्ताद्वा सार्धान्निष्कास्य लेपनम् ॥ ८ ॥
वस्त्रखण्डेनाभमृश्य स्नेहाद्यं व्यपनीय च ।
मूर्धिन दद्यात् पुनस्तैलं ततः स्नायात् यथाविधि ॥ ९ ॥

शिरोलेपः



तमक श्वास के रोगी की शिरोलेप द्वारा चिकित्सा की जा रही है ।

डेढ़—एक घंटा अथवा एक घंटा पश्चात् सब लेप को निकाल डाले । वस्त्र के टुकड़े से सिर को रगड़कर पोंछ दें । तैल आदि दूर हटाकर रख दें एवं रोगी के सिर में पुनः तैल लगावें और फिर उसे यथाविधि स्नान करवा दें ।

तक्रधारफलं चास्मादेकदेशं समाप्नुयात् ।
बलामूलं च मुस्तां वा यथाद्याहं त्रिफलामपि ॥ १० ॥
पंचगन्धं तुगाक्षीरीं दशमूलमथापि वा ।
तक्रेण वापि क्षीरेण शृतशीतजलेन वा ॥ ११ ॥

पिष्टवा तेन शिरोलेपं यथावस्थं प्रयोजयेत् ।
भैषजस्य गुणे भेदात् यथेच्छं लभते फलम् ॥ १२ ॥

इस सिरो-लेप-क्रिया द्वारा अंशतः तक्रधारा-क्रिया का फल जरूर प्राप्त होता है । अवस्था भेदानुसार शिरोलेप के लिये बरियार की जड़, मोथा अथवा मुलेठी, त्रिफला, पंच-गंध, वंशलोचन, दशमूल इत्यादि को तक्र से, दूध से या जुड़वाये हुए जल से पीसकर शिरोलेप करना चाहिये । औषधि के गुण-भेद से प्रयोग में यथेष्ट फल प्राप्त होता है ।

प्रायः साधारणे काले नातिवृष्टिहिमातपे ।
आषाढैवाश्विनेमासे प्रातरेवापि फाल्गुने ॥ १३ ॥
उत्कानि पंचकर्माणि जरापलितवारणे ।
स्वास्थ्य-संरक्षणार्थं च प्रतिवर्षमनातुरे ॥ १४ ॥
यथावस्थं कारयन्ति भिषजोऽपि तथातुरे ।
रोगात्यये तु सहसा कालेऽप्यविहिते तथा ॥ १५ ॥

बुदापा तथा बालों का पक्ना रोकने के लिए तथा वैसे भी स्वास्थ्य सुरक्षा के लिये प्रायः साधारण समय में जब कि बहुत वर्षा, जाड़ा या गरमी न हो; आषाढ़, आश्विन, फाल्गुन इन मासों में प्रतिवर्ष प्रातःकाल में निरोग व्यक्ति भी इन बताये हुए (केरलीय) पंचकर्मों का प्रयोग कर सकते हैं । वैद्य भी रोगियों को अवस्थाओं के अनुसार इस क्रिया से यथोचित लाभ दिलाते हैं ।

कृत्वा काल प्रतीकारं सायं प्रातश्च युक्तिः ।
प्रायस्त्वस्थे द्विसप्ताहं त्रिसप्ताहमथातुरे ॥ १६ ॥

यदि रोग अतिशय बढ़ गया हो और प्रयोगार्थ समय भी प्रायः अनुकूल न पड़ता हो तब भी कोशलपूर्वक समय की बाधा को काटकर सायंकाल तथा प्रातःकाल वैद्य-गण इस शिरोलेपन क्रिया को कराते हैं ।

व्याध्यवस्थावशादेव यावत् स्वास्थ्यमवाप्नुयात् ।
यावन्त्यहानि कर्माणि कुर्वन्त्यापि ततः परम् ॥ १७ ॥
तावन्त्यहानि चान्यानि पश्याहारविधिं भजेत् ।
ततश्च क्रमशो नैव सहसा साधारणाश्रयः ॥ १८ ॥

प्रायः दो सप्ताह में या तीन सप्ताह में स्वस्थ होने पर अथवा व्याधि की अवस्थानुसार जितने दिनों में पूर्ण आरोग्यलाभ हो सके उतने दिनों तक इन पंचकर्मों का प्रयोग करते हुए उचित आहार-विहार का सेवन करते ही रहना

चाहिये । इसमें व्यतिक्रम न हो । स्वस्थ होने पर भी एकबारगी पथ्याहार छोड़ न बैठे । क्रमशः धीरे-धीरे पूर्वजीवन-पद्धति में आवे ।

पंचस्वपि क्रियास्वासु प्राहे वा स्नानतः परम् ।

क्वाथो गन्धर्वहस्तादिः सेव्योवश्यमितिक्रमः ॥ १६ ॥

इन पांचों कर्मों में दोपहर को अथवा स्नान के बाद गन्धर्व हस्तादि (एरण्डादि) व्याथ का अवश्य सेवन करना चाहिये, ऐसा विधान है ।

सायं वा युक्तकालेन्यत् शीलयेत् योग्यमौषधम् ।

दिशानया सर्वमूहां यथावस्थं भिषग्वरैः ॥ २० ॥

सायंकाल अथवा अन्य योग्य समय में योग्य औषध का सेवन करना चाहिये । उत्तम वैद्यों को इस बतायी हुई विधि से सब कुछ ठीक समझ-बूझ कर अवस्थानुसार योग्य चिकित्सा करनी चाहिये ।

विधिभ्रंशात् व्याधयश्चेत् विहायाशु क्रियाक्रमम् ।

कृत्वा व्याधिप्रतीकारं कर्मकुर्यात् यथोचितम् ॥ २१ ॥

यदि विधान में भूल हो जाने से रोग में अन्य उपद्रव खड़े हो जाय तो किया को तुरंत बन्द करके उस उप-व्याधि के प्रतिकार की उचित चेष्टा करनी चाहिये ।

मूर्धसेकः कायसेकः पिण्डस्वेदोऽन्नलेपनम् ।

शिरोलेपश्चेति पंच केरले प्रथिताः क्रियाः ॥ २२ ॥

मूर्धसेक, कायसेक, पिण्डस्वेद, अन्न-लेपन, और शिरो-लेप, ये पंचकर्म केरल-देश में प्रचलित (विस्तृयात) हैं ।

अन्यदेशभिषग्भ्योषि हितायासां क्रियाक्रमः ।

यथामति मया प्रोक्तं नातिसंक्षेप विस्तरम् ॥ २३ ॥

अन्य प्रान्तों के वैद्यों के लिये भी ये पंचकर्म हितकारी हैं । इसलिए यहाँ पर हमने यथा-मति इनका न बहुत विस्तृत न बहुत संक्षिप्त बर्णन दिया है ।

वैद्यरत्नस्य शिष्येण रघुनाथेन शर्मणा ।

कस्यायल्पोपकाराय चेद्यं न वृथाश्रमः ॥

वैद्यरत्न के शिष्य रघुनाथ शर्मा ने इसे परिश्रमपूर्वक बनाया, इससे यदि किसी का थोड़ा भी उपकार बन पाये तो यह परिश्रम सार्थक समझा जायगा ।

गन्धर्वहस्तादिकषायः

गन्धर्वहस्तचिरिविलवहुतशविश्वपथ्यापुनन्वयवासकभूमितालैः ।

क्वाथः ससैन्धवगुडः पवनस्य शान्त्यै वह्नेवलाय रुचये मलशोधनाय ॥

एरण्ड, करंजक, बेल, चित्रक, शुंथी, हरीतकी, पुनर्नवा, यवासा, भूमिताल (स्याहमुसली) इन सब के द्वारा सिद्ध किया हुआ, सैंधव-गुड मिश्रित क्वाथ वात-रोग-शमनार्थ, अग्नि-बल बढ़ाने के लिये रुचि जगाने के लिये तथा मल-शुद्धि के लिये उपयोगी होता है ।

इसके बाद जिन मूलिकाओं का उपयोग गन्धर्वहस्तादि कषाय के बनाने में होता है उनका सचित्र वर्णन इस प्रकार है :—



१—गन्धर्व हस्त (स०) अवनवक (मलया०) एरण्ड (हन्दी) मेरेडा (ब०) एरंडम् (तै०) आमणवकम् (ता०) Ricinus Communis (Lat)
कुल—Euphorbiaceae.

रासायनिक संगठन—इसमें स्थिर तैल ४५% मांससार २०% पिच्छल १ द्रव्य, शकंरा, श्वेतसार और क्षार १०% होते हैं। तैल मुरासार में विलेय होता है और मुख्यतः राइसिन ओलिएट, पामिटिन स्टीयरिन आदि होते हैं।

गुण-धर्म—

गुण—गुरु, स्तिर्ग्रथ, तीक्ष्ण, सूक्ष्म, सौम्य, संसन, स्तन्य-जनन, दाहशामक एवं वातहर है।

रस—मधुर, कटु, कषाय।

विपाक—मधुर

वीयं—शीत,

दोषकर्म—मधुर गुण प्रधान होने से पित्तशामक है।



२—यवासा (सं०,) कोडुनुव (मल०) निलप्पन (ते०) नियन (ता०)

Tragia involucrata (Lat)

कुल—Leguminosae.

रासायनिक संगठन—इसकी राकंरा में कई प्रकार की जैसे इस्तुराकंरा २०४% इतर राकर (invert sugar, 11.6%) एवं मेलि जिरोज (melizitose 47%) पायी जाती है।

गुण-धर्म—

गुण—लघु, स्तिर्ग्रथ।

विपाक—मधुर। रस—मधुर, तिक, कषाय।

वीयं—शीत, श्लेष्महर, सर।

स्वेदजनन, मूत्रजनन, आनुलोभिक एवं पित्तहर है। इसका उपयोग प्रतिश्याय, कास, श्वास, ज्वर, रक्तपित्त, भ्रम, तृष्णा एवं अर्श में किया जाता है।



३—हुताश (स०) कोडुवेलि (म०) लाचीत (हि०) लालचीता (ब०)

लालचितक (म०) चित्रफूल (क०) येर्चितमूलम् (ते०)

शिवपुचित्रफूलम् (ता०) चेवकीकोडवेरी (मल०)

Plumbago Rosea (Lat)

कुल—Plumbaginaceae.

रासायनिक संगठन—मूल में एक कटु, सफ्टिकीय, पीत, सूच्याकार तत्त्व होता है जिसका नाम प्लम्बेजिन (Plumbagin) है। यह अधिक से अधिक ९१ प्रतिशत होता है।

गुण-धर्म—

गुण—लघु, रक्ष, तीक्ष्ण

विषाक—कटु

रस—कटु। वीर्य—उष्ण।

दोष कर्म—उष्ण और तीक्ष्ण होने से कफवात शामक तथा पित्तवर्धक है।



४—चिरबिल्व (स०) चिलबिल (हि०) वावल (म०) चरेल (गु०) रसविज (क०)

Halo-pteris Integrifolia (Lat.)

कुल—Ulmaceae.

रासायनिक संगठन—इसकी छाल में लुभावदार पदार्थ बहुत होता है।

गुण-धर्म—

गुण—लघु, रक्ष

विषाक—कटु

रस—तिक्त, कषाय।

वीर्य—उष्ण।

यह शोथहर, शोणितोत्क्लेशक एवं करंज के समान गुण वाला है। इसकी छाल उबालकर संधिशोथ पर लगाई जाती है।



५—भूमितालके (सं०) निल्पन (मल०) स्याहमुसली (हि०) काली मुसली (गु० म०) नैलताडिगाढ़ा (ते०) निलधनेक (ता०) नैलताल (क०)

Curculigo orchioides (Lat.)

कुल—Amaryllidaceae.

रासायनिक संगठन—

इसमें तैलीय द्रव्य १३% राल तथा कषाय द्रव्य ४%, गोद २०%, पिष्टमय पदार्थ ५३%, सीठी १४% एवं जल ४३% रहता है। सुखे कन्द से ८२% राख मिलती है जिसमें कॉल्शियम ऑक्जॉलेट (calcium oclate) रहता है।

गुण-धर्म—

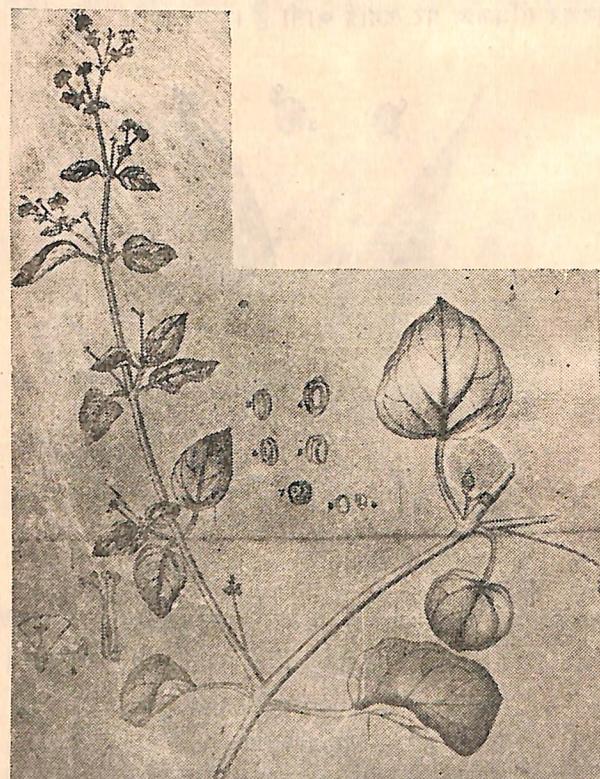
गुण—गुरु, स्निग्ध ।

विपाक—मधुर ।

रस—मधुर, तिक्त

वीर्य—उष्ण ।

प्रयोग—यह स्नेहन, मूत्रजनन बल्य तथा वृद्धि है । अर्श, कामला, इवास, अतिसार तथा शूल में इसका उपयोग किया जाता है । वृद्धि पाक एवं अस्थिभङ्ग में भी इसका उपयोग किया जाता है ।



६—पुनर्वा (स०) पुनर्वा (हिं०) सनाहिडका (क०) पुनर्व (म०) मुक्तै (ता०) अटातमामिठि (ते०) खट्टन (पं०)
Boerhea via Diffusa (Lat)
कुल—Nyctaginaceae.

रासायनिक संगठन—इसके पत्तों में पुनर्वीन नामक कार्यकारी क्षारात्र की मात्रा चुक्र द्रव्य में ० ० १% तक होती है । मूल में संपूर्ण क्षारत्व की मात्रा ० ० ४% होती है । इसके अतिरिक्त इसमें पोटांशियम नाइट्रोट सल्फेट क्लोरोइड एवं ६ ५% एवं स्थिर तैल होता है ।

गुण-धर्म—

गुण—लघु, रुक्ष ।

विपाक—मधुर ।

रस—मधुर, तिक्त, कषाय ।

वीर्य—उष्ण ।

प्रयोग—शोथ, सर्वांगशोथ, उदर, कामला, मूत्राल्पता, पाण्डु, हृद्रोग, इवास, उरःक्षत, सोजाक, विषविकार एवं नेत्रविकारों में किया जाता है ।



७—विश्व (स०) चुक्कु (म०) आदी (हिं०) आदा (बं०) अज्ज (ते०) हसिशुण्ठी (क०) शुक्र (ता०) Zingeberis officinalis (Lat)
कुल—Zingiberaceae.

रासायनिक संगठन—१—३% उड़नशील तैल होता है । इसमें जिंजरोल (Gingerol) तथा शोगोल नामक कटु द्रव्य है । इसके अतिरिक्त इसमें रेजिन तथा स्टार्च रहता है ।

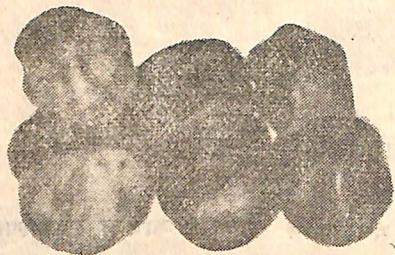
गुण-धर्म—

गुण—लघु, स्निग्ध ।

रस—कटु विपाक-मधुर ।

वीर्य—उष्ण ।

प्रयोग—उत्तम पाचक, कफब्द, वातहर एवं उत्तेजक सुगन्धित द्रव्य है अतः नस्य के रूप में भी प्रयोग किया जाता है। गरम जल में सोंठ चूर्ण का लेप शिरःशूल, वातनाडीशूल एवं दन्तशूल में उपयोगी है।



६-पथ्या (सं) कडुका (म०) हरड़ (हि०) हण्डा (म०) हरडे (गु०)
करकचेट्ड (ते०) कडुकाय (ता०) Terminalia chebula (Lat)
कुल—Combretaceae.

रासायनिक संगठन—३०% कसैला द्रव्य होता है जो चेबूलीनिक एसिड के कारण है। टैनिक (Tannic Acid) एसिड २०—४०%, गैलिक एसिड, रातु आदि द्रव्य हैं। इसका विरेचक द्रव्य एन्श्राक्षिनोन के समान है।

गुण-धर्म—

गुण—लघु, रक्ष रस—मधुर, तिक्त, कषाय अम्ल, कटु।

विपाक—मधुर।

वीर्य—उष्ण।

प्रभाव—त्रिदोषहर।

प्रयोग—जीर्ण ज्वर, अतिसार, अशं, नेत्ररोग, अजीर्ण प्रमेह, पाण्डु, जीर्ण कास आदि में लाभकर होता है। यह अच्छा व्रणरोपक, मुखब्रण शोधन एवं शृङ्खु विरेचक है।

धान्याम्लकल्पः

अशीतिवातरोगेषु धान्याम्लं विनिवेशयेत् ।
शुभे मुहुर्ते नक्षत्रे सुग्रहे कलशं न्यसेत् ॥ १ ॥
तस्मिन्नेतांश्च संभारान् निष्ठिपेन्मतिमान् भिषक् ।
तण्डुलस्य दशप्रस्थं पृथुकस्य तथैव च ॥ २ ॥
कुलस्थस्य तथा लाजाच्चत्वारिंशन्न्यसेत् पुनः ।
आढकं कंगुबीजानां कोद्रवस्य च तण्डुलात् ॥ ३ ॥
चतुष्प्रस्थं क्षिपेत् पश्चाद् द्विप्रस्थं नागरस्य तु ।
कंसं दन्तशठानान्तु दीप्यकात् कुडुवाष्टकम् ॥ ४ ॥
उष्णोदकस्य द्विशतप्रस्थं क्षिप्त्वा तिरोदधेत् ।
ततस्तद्वदनं बध्वा परितोग्नि प्रदीपयेत् ॥ ५ ॥
आसप्तदिवसादेवमष्टमे दिवसे पुनः ।
धान्याम्लमस्मादाकृत्य पुनरुष्णोदकं क्षिपेत् ॥ ६ ॥
तदम्लीभूतधान्याम्लमुष्टणं द्रोण्यां विनिक्षिपेत् ।
आतुरं स्त्रिग्नधसर्वांगं तदा तत्रावगाहयेत् ॥ ७ ॥
मात्राणां षट् सहस्राणि परमः काल उच्यते ।
तदेवाधिकपंचाशनमात्रामाहूर्मनीषिणः ॥ ८ ॥
पुनरेनं समुथाप्य स्वेदं वस्त्रेण मार्जयेत् ।
पुनरभ्यक्तसर्वांगं स्नात्वा कोषणांबुना ततः ॥ ९ ॥
ईषत्स्त्रिग्नधं मितं भुक्त्वा निवाते शयनं भजेत् ।
ऋयहादूर्ध्वं त्यजेदैतत् पुनरन्येद्युराचरेत् ॥ १० ॥
एवं द्राविंशतिदिनं पुनस्तमनुवासयेत् ।
अतः परं प्रवद्यामि वीर्यं तदवगाहनात् ॥ ११ ॥

अस्सी प्रकार के बात रोगों में 'धान्याम्ल-कल्प' का प्रयोग हितकारी माना जाता है। उसका विधान लिख रहे हैं—शुभमूहूर्त में, शुभ नक्षत्र में, पवित्र गृह में मंगल कलश की स्थापना करें। फिर उसमें बुद्धिमान चिकित्सक आगे बतायी हुई सामग्री डाले। दशप्रस्थ (१० कि० ग्रा०) चावल, उतने ही पृथुक (चिरडा) तथा कुलधी एवं लाजा (धान के लावे) प्रत्येक (१० कि० ग्रा०), कंगुली के बीज आढ़क (४ कि० ग्रा०), कोदव के चावल ४ कि० ग्रा० उसमें डाले। पश्चात् उसमें दो प्रस्थ (२ कि० ग्राम) सोंठ मिला दें। पुनः उसमें चांगोरीका ४ कि० ग्राम अजवायन दो कि० ग्रा०। फिर उसमें दो सौ प्रस्थ (दो सौ कि० ग्राम) गरम जल डालकर उसकी मूँद दें। उसका मुख बांध दे और उसके चारों ओर अग्नि जला दें। सात दिन इस प्रक्रिया में बीत चुकने पर आठवें दिन उसमें से उन धान्याम्ल को बाहर निकाल लें और फिर से उसमें गरम जल डाल दें। उस गरम-गरम खट्टे धान्याम्ल को (पूर्वोक्त) विशाल द्रोणी-पात्र में उडेल कर रख दें। फिर समस्त शरीर में तैल लगाकर तैयार हुए रोगी को उसमें डुबावें। डुबकी लगाने का अधिक समय छः हजार मात्रा का बतलाया जाता है। कोई विद्वान् और भी पचास मात्रा ज्यादा बतलाते हैं। रोगी को उठाकर वस्त्र से उसका सारा पसीना पोंछ दें। उसके बाद पुनः समस्त शरीर में तैल लगा कर गुनगुने पानी में रोगी को स्नान करा दें। फिर कुछ स्निग्ध और मित आहार खिलाकर निर्वात-शान्त स्थान में रोगी को शयन करा दें। तीन दिन तक उक्त 'धान्याम्ल' को काम में लावे। पश्चात् उसे फेंक दें और फिर से अगले अन्य दिन दूसरा तैयार करके प्रयोग करें। इस प्रकार बाइसदिनपर्यन्त पुनःपुनः इस प्रक्रिया को करावे। इस अवगाहन-प्रक्रिया से किन-किन रोगों में लाभ होता है तथा रोगी में बल की वृद्धि होती है, वह गिनाते हैं :—

मन्यास्तंभं हनुस्तंभमर्दितं विवृतास्यतां ।
जिह्वास्तंभं पार्श्वशूलमुरःकंपं तथैव च ॥१२॥

बाहुशोषं चिरगतमपबाहुं विशेषतः ।
कोष्ठजान्वातजान्वरोगान् हन्यादेतन्नसंशयः ॥१३॥

तुनीप्रतितुनीं चैव जलकूर्मप्लीहामयो ।
आनाहं गुल्ममष्टीलां प्रत्यष्टीलां तथैव च ॥१४॥

गुह्यरोगाणि सर्वाणि गुदजानि विशेषतः ।
पाण्डुशोफपरीसर्पपामादीन्नाशु नाशयेत् ॥१५॥

मन्या-स्तंभी, हनु-स्तंभी, अर्दित, विवृतास्यता, जिह्वास्तंभ, पार्श्व-शूल, हृत्कंप, बाहुशोष, दीर्घकालीन अववाहुक, कोष्ठज रोग, वातज व्याधियाँ इत्यादि निःसन्देह इस प्रक्रिया द्वारा नष्ट होती हैं। तुनी, प्रतितुनी, जल-कूर्म, सम प्लीहा, आनाह, गुल्म, अष्टीला, प्रत्यष्टीला, समस्त गुह्य रोग, समस्त गुदज रोग, पाण्डु, शोफ, परीसर्प पामा आदि इससे शीघ्र ही नष्ट हो जाते हैं।

कटिवंक्षणशूले च खंजं पक्षवधं खुडम् ।
पाददाहं पादहर्षं नखभेदं विपादिकाम् ॥१६॥
अन्यान् समीरजान्वरोगान् क्षिप्रमेतदून्यपोहति ।

कटि-वंक्षण-शूल, खंज, पक्षवध, खुडवात, पाददाह, पाद हर्ष, नख-भेद, विपादिका तथा अन्य वातज व्याधियाँ इस 'धान्याम्ल कल्प' के प्रयोग से बहुत जल्दी अच्छी हो जाती हैं ॥

इति

—○—○—○—

चिकित्साप्रयुक्त नवीन ग्रन्थ—

चरकसंहिता—(चक्रपाणिधीका सहित) 'विद्योतिनी' हिन्दी व्याख्या	
आचार्य प्रियब्रतशर्मा विरचित ऐतिहासिक भूमिकादि विमूष्ठत ।	
सम्पादक—डा० गंगासहाय पाण्डेय । इन्द्रियस्थान पर्यन्त प्र० भाग २५-००	
चिकित्सादि से समाप्ति पर्यन्त द्वि० भाग २५-००	
चरकसंहिता—'विद्योतिनी' हिन्दीव्याख्या, विमर्श परिशिष्ट सहित ।	
सम्पादक—डा० गंगासहाय पाण्डेय-प्रभृति । इन्द्रियस्थान पर्यन्त १६ ००	
चिकित्सादि समाप्ति पर्यन्त विस्तृत परिशिष्ट सहित द्वितीय भाग २०-००	
वैद्यकीयसुभाषितसाहित्यम्—डा० भास्कर गोविन्द घाणेकर	२५-००
वारभट-विवेचन—(वारभट अध्ययन) आचार्य प्रियब्रत शर्मा	२०-००
निघण्डु आदर्श (हिन्दी)—बापालाल ग० वैद्य । प्रथम भाग	३५-००
चौखम्बा-चिकित्साविज्ञानकोश—सं० डा० गंगासहाय पाण्डेय	२०-००
जीवाणु-विज्ञान—डा० भास्कर गोविन्द घाणेकर	१६-००
कायचिकित्सा—डा० गंगासहाय पाण्डेय	२५-००
कायचिकित्सा—आचार्य रामरक्ष पाठक । १-२ भाग	२८-००
अभिनन्दनग्रन्थ—(कविराज श्री सत्यनारायण शास्त्री जी का)	१५-००
आयुर्वेदप्रकाशः—'आर्थविद्योतिनी' संस्कृत-हिन्दी व्याख्या सहित	१४ ००
आयुर्वेदप्रदीप (आयुर्वेदिक-एनोटेशन गाइड) डा० राजकुमार च० संस्करण १५-००	
मुश्रुनसंहिता—'आयुर्वेदतत्त्वसन्दीपिका' हिन्दी व्याख्या, विमर्श सहित	१४-००
भैषज्यरत्नावली—'विद्योतिनी' हिन्दी व्याख्या विमर्श सहित	१६-००
गदनिग्रह—सविमर्श 'विद्योतिनी' हिन्दीव्याख्या १-३ भाग संपूर्ण	६५-००
माधवनिदान—मधुकोष संस्कृत व्याक्या, विद्योतिनी हिन्दी द्वीका	१५-००
नव्यचिकित्साविज्ञान—डा० मुकुन्दस्वरूप वर्मा । भाग १-३	१६-००
बीसवीं शताब्दी की ओषधियाँ । डा० मुकुन्दस्वरूप वर्मा	८-००
द्रव्यगुणविज्ञान (१-३ भाग)—आचार्य प्रियब्रत शर्मा	१३ ००
प्रसूतिविज्ञान—डा० रमानाथ द्विवेदी । परिवर्धित संस्करण	११ ००
रोग-परिचय—डा० शिवनाथ खजा	१५-००
सचित्र इन्जेक्शन—डा० शिवनाथ खजा । द्वितीय संस्करण	१३ ००
किलनिकल पैथोलोजी—(इहत मल-मूत्रादि परीक्षा) डा० खजा	१४-००

प्राप्तिस्थानम्—चौखम्बा विद्याभवन, चौक, वाराणसी-१